सन्तवाणी

भाग — ७

कैसेट सं. ३८ से ४२ तक

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन—२८११२१

सन्त-वाणी

भाग—७

◆

मानव सेवा संघ के प्रवर्त्तक ब्रह्मलीन सन्त
प्रवर पूज्यपाद स्वामी श्री शरणानन्द जी महाराज
की अमृत वाणी।

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन—२८१ १२१

प्रकाशक

मानव सेवा संघ

वृन्दावन, मथुरा (उ० प्र०)

पिन–२८१ १२१

◆

सर्वाधिकार सुरक्षित

◆

द्वितीय संस्करण : ५०००

दीपावली, २६ अक्टूबर, २०००

◆

मूल्य : [illegible] पये)

◆

मुद्रक

चित्रलेखा

बागबुन्देला, वृन्दावन–२८१ १२१

फोन : ४४२४१५

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है तथा साधक के विकास का अचूक उपाय है।)

मेरे नाथ !
आप अपनी,
सुधामयी,
सर्व-समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुखी प्राणियों के हृदय में,
त्याग का बल,
एवम्
सुखी प्राणियों के हृदय में,
सेवा का बल,
प्रदान करें,
जिससे वे,
सुख-दुःख के,
बन्धन से,
मुक्त हो,
आपके,
पवित्र प्रेम का,
आस्वादन कर,
कृतकृत्य,
हो जायँ।

ॐ आनन्द !   ॐ आनन्द !!   ॐ आनन्द !!!

हरिः शरणम्

हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्।
हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्, हरिःशरणम्।

सर्वहितकारी कीर्तन

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर।
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
हे समर्थ, हे करुणा सागर, विनती यह स्वीकार करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो।
पीर हरो हरि, पीर हरो हरि, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।
पीर हरो हरि, पीर हरो हरि, पीर हरो, प्रभु पीर हरो।

मानवता के मूल सिद्धान्त

१. आत्म–निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

२. की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।

३. विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।

४. जितेन्द्रियता, सेवा, भगवत् चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।

५. दूसरों के कर्त्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल, न मानना।

६. पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

७. निकटवर्ती जन–समाज की यथाशक्ति, क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

८. शारीरिक हित की दृष्टि से आहार, विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।

९. शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

१०. सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।

११. व्यर्थ–चिन्तन त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।

प्रार्थना

मेरे नाथ !

आप अपनी सुधामयी, सर्व-समर्थ, पतित-पावनी, अहैतुकी

कृपा से, मानव-मात्र को विवेक का आदर तथा

बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य

प्रदान करें, एवं

हे करुणा सागर !

अपनी अपार करुणा से शीघ्र ही राग-द्वेष का

नाश करें। सभी का जीवन, सेवा

त्याग, प्रेम से परिपूर्ण

हो जाय।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

परिचय

श्रीस्वामी जी महाराज जब तक सशरीर विद्यमान थे, कुछ प्रेमी जनों ने उनकी विशेष स्वीकृति लेकर उनके कुछ प्रवचनों को टेप में रिकार्ड कर लिया था। उनके ब्रह्मलीन हो जाने के बाद उनके ही स्वर में जीवनोपयोगी अनमोल वचनों को सुनकर जीवनदायी प्रेरणा लेने के लिए उनके चुने हुए टेप रिकार्डेड प्रवचनों के कैसेट्स तैयार कराये गये। इस प्रकार श्री स्वामीजी महाराज के ४२ कैसेट्स तैयार हुए तथा उन्हें चार सैट्स में बाँट दिया गया। पहले सैट में १२ कैसेट्स, दूसरे सैट में १०, तीसरे सैट में १० तथा चौथे सैट में १० कैसेट्स हैं।

सत्संग प्रेमियों की माँग तथा उन प्रवचनों के गूढ़ रहस्य को हृदयंगम करने के लिए यह आवश्यक हुआ कि उन प्रवचनों को पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किया जाय। अतः सन्त–वाणी भाग–२ में कैसेट सं० १ से ६ तक, सन्त–वाणी भाग–३ में कैसेट सं० ७ से १२ तक, सन्त–वाणी भाग–४ में कैसेट सं० १३ से २२ तक, सन्त–वाणी भाग–५ में कैसेट सं० २३ से ३२ तक तथा सन्त–वाणी भाग–६ में कैसेट सं० ३३ से ३७ तक पहले ही प्रकाशित हो चुके हैं। अब इस सन्तवाणी भाग–७ में कैसेट सं० ३८ से ४२ तक के प्रवचन प्रकाशित कर आपकी सेवा में प्रस्तुत हैं।

सत्संग प्रेमी भाई–बहनों की सेवा में सप्रेम समर्पित यह सन्त–वाणी का सातवाँ पुष्प सब प्रकार से आपके लिए हितकारी हो, इसी सद्भावना के साथ !

वृन्दावन,
राधा अष्टमी : ४ सितम्बर १९९२

प्रकाशक :
मानव सेवा संघ

अनुक्रमणिका

क्रमांक	पृष्ठ संख्या
१–प्रवचन : कैसेट संख्या–३८ (अ)	६
२–प्रवचन : कैसेट संख्या–३८ (ब)	२४
३–प्रवचन : कैसेट संख्या–३९ (अ)	३७
४–प्रवचन : कैसेट संख्या–३९ (ब)	३९
५–प्रवचन : कैसेट संख्या–४० (अ)	६७
६–प्रवचन : कैसेट संख्या–४० (ब)	८५
७–प्रवचन : कैसेट संख्या–४१ (अ)	९९
८–प्रवचन : कैसेट संख्या–४१ (ब)	११४
९–प्रवचन : कैसेट संख्या–४२ (अ)	१२९
१०–प्रवचन : कैसेट संख्या–४२ (ब)	१४६

३८ (अ)

प्रवचन :

मानव–सेवा–संघ का निर्माण क्यों हुआ ? इस सम्बन्ध में यदि गम्भीरता से विचार किया जाए, तो मानव–सेवा–संघ कोई नया मजहब नहीं है, न कोई इज्म है। तो क्या है ? यह मानव–जीवन के महत्त्व को बताने वाला एक संघ है, एक विचार है। आप विचार करके देखें, धन के महत्त्व ने बेईमानी पैदा कर दी। उसके लिए वह भी करते हैं जो करना चाहिए और वह भी करते हैं जो नहीं करना चाहिए। तन के महत्त्व ने अनेक प्रकार के भय में आबद्ध कर दिया। पद के महत्त्व ने मिथ्या अभिमान को जन्म दिया। आत्मा और परमात्मा के महत्त्व ने हमें वाचक–ज्ञानी बना दिया। उसका विरोध नहीं है, बुरा मत मानियेगा। आत्मा–परमात्मा की चर्चा करने लगे और वाचक–ज्ञानी हो गए। यह भी हो गया कि परमात्मा के नाम पर जो चाहो सो करो।

लेकिन आप जरा गम्भीरता से सोचिए। आप मानव होने के नाते अपने जीवन का क्या मूल्यांकन करते हैं ? इस पर विचार कीजिए। आज जो परिचय दिया जाता है, वह धन के अधीन दिया जाता है, पद के अधीन दिया जाता है, योग्यता के अधीन दिया जाता है। लेकिन मानव होने के नाते आपका क्या महत्त्व है ? इस बात को हम भूल गए हैं। उसका परिणाम यह हुआ है कि मनुष्य पराश्रय और परिश्रम में आबद्ध हो गया है। पराश्रय और परिश्रम में आबद्ध मानव कभी–भी न तो शान्ति पाता है, और न मुक्ति पाता है और न भक्ति पाता है। ऐसा मेरा विश्वास है और अनुभव है। अगर इसके विपरीत किसी का अनुभव हो, तो मुझे बताएँ।

मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता था कि केवल मानव होने के नाते–सामर्थ्य भी अल्प हो, धन भी कम हो, योग्यता भी कम हो, परिस्थितियाँ भी प्रतिकूल हों, सारी बातें विपरीत हों–अगर हमें

मानव–जीवन का यह महत्त्व मालूम हो जाये कि मानव अपने ज्ञान से ही मुक्ति पाता है, अपने विश्वास से ही भक्ति पाता है। बल अल्प हो या विशेष हो, बल का दुरुपयोग न करने से मानव शान्ति पाता है। अब आप सोचिये कि अपने ही ज्ञान से जब हम मुक्त हो सकते हैं, तो मुक्ति से वंचित क्यों ? अपनी ही आस्था, श्रद्धा, विश्वास से भक्ति पा सकते हैं, तो भक्ति से वंचित क्यों ? मिले हुए बल के दुरुपयोग न करने से शान्ति पा सकते हैं, तो जीवन में अशान्ति क्यों ? इसलिए कि आज हमने–आपने मानव–जीवन के महत्त्व को भुला दिया।

देखिए, मानव–जीवन का महत्त्व न भुलाया होता, तो क्या आज हम अपने ज्ञान का अनादर करते ? क्या आज हम बल का दुरुपयोग करते ? क्या आज हम अपने विश्वास में विकल्प करते ? क्या राय है ? नहीं करते। इसलिए महानुभाव ! मैं कोई नई बात बताने नहीं बैठा हूँ। यह मान कर नहीं बोलता हूँ कि मैं जानता हूँ और आप नहीं जानते। मैं समझाने के लिए नहीं बोलता हूँ। इस मानव–जाति की व्यथा से व्यथित होकर जो प्रभु प्रेरित निकलता है वह बोलता हूँ। कभी–कभी तो जैसे आप सुनते हैं, मैं भी सुनता हूँ। मैं आपसे केवल यह निवेदन कर रहा था कि अगर आपको इस वाणी पर विश्वास हो सके, तो आप यह मान लीजिए कि मानव–सेवा–संघ माने, भगवान् का काम। यह शरणानन्द का काम नहीं है। यह भगवान् का काम है। भगवान् का काम करने से भगवान् प्रसन्न होते हैं और उससे प्रेम करने लगते हैं।

भगवान् का नाम लेने से, ध्यान करने से, करने वाले को ही ज्यादा प्रसन्नता होती है। भगवान् को होती है कि नहीं, यह तो भगवान् जानें। क्यों भाई, जो सब प्रकार से पूर्ण है, उसको अपनी बड़ाई सुनने से प्रसन्नता होगी क्या ? क्या राय है ? लेकिन बड़े से बड़े आदमी को भी प्रसन्नता होती है, यदि उसका कोई काम करें। आप कहें कि प्रभु का काम कैसे ? तो प्रभु विश्वासियों ने सबसे

पहले यह स्वीकार किया कि मेरे पास जो कुछ है वह मेरा नहीं है, अपितु भगवान् का है। मेरा तन भगवान् का, मन भगवान् का, धन भगवान् का, प्राण भगवान् के। जिसे मैं अपना करके मानता हूँ या मानता रहा हूँ, वह वास्तव में मेरा है नहीं।

आप सोचिये, जिसका अपना कुछ न हो, उसको कोई भयभीत कर सकता है क्या ? कोई नहीं। आप भयभीत हैं कि नहीं ? इससे क्या पता चला ? मानव–जीवन का जो महत्त्व था, मानव होने से जो आपको मानना–जानना चाहिए था, जो करना चाहिए था, उसको आपने छोड़ दिया। मानव ही में यह सामर्थ्य है कि ज्ञानपूर्वक कह सके कि व्यक्तिगत मेरा कुछ नहीं है। यह और किसी में सामर्थ्य नहीं है। मानव ही श्रद्धा विश्वासपूर्वक यह स्वीकार कर सकता है कि मेरी भगवान् से जातीय एकता है, मेरा भगवान् से नित्य सम्बन्ध है, मेरा भगवान् से आत्मीय सम्बन्ध है। यह सामर्थ्य मानव को छोड़ कर और किसी में है ही नहीं।

लेकिन आज हमने इस मानव–जीवन के महत्त्व को तो भुला दिया। हमने अपने को तन का महत्त्व मानकर मोह में आबद्ध कर लिया, धन का महत्त्व मानकर लोभ में आबद्ध कर लिया, परिस्थितियों का महत्त्व मानकर दीनता और अभिमान में आबद्ध कर लिया, अवस्थाओं का महत्त्व मानकर परिच्छिन्नता में आबद्ध कर लिया। यह हमने अपनी ही भूल से किया। यह हमसे कब हुई ? जब हम इस बात को भूल ही गये कि मानव होने से भी हमारा कोई महत्त्व है। स्वस्थ शरीर को देखकर आप अपना महत्त्व आँकते हैं, धन को इकट्ठा करके आप अपना महत्त्व आँकते हैं, पद को प्राप्त करके आप अपना महत्त्व आँकते हैं, योग्यता सम्पादन करके आप अपना महत्त्व आँकते हैं। लेकिन धन अधिक हो या कम हो, इससे मानव–जीवन के महत्त्व में कोई अन्तर थोड़े ही आता है। अरे भाई, आप सोचिये। आप बहुत बड़े सम्पत्तिशाली हो गये, लेकिन क्या आपको सही चौकीदार नहीं चाहिए ? क्या आपको सही रसोइया नहीं चाहिए ?

क्या आपको सही कमरा साफ करने वाला नहीं चाहिए ? क्या राय है ? चाहिए।

इससे क्या सिद्ध हुआ ? अधिक सामर्थ्य होने से आप स्वाधीन हो गये हों, सो बात नहीं। अभय हो गये हों, सो नहीं हो गये। समता में स्थित हो गये हो, सो नहीं हुए। हो गये क्या ? क्यों नहीं हो गये ? अधिक सम्पत्ति होने से ही मानव, मानव हो सकता है और अल्प सम्पत्ति से मानव, मानव नहीं हो सकता। अधिक योग्यता से मानव, मानव हो सकता है और अल्प योग्यता से मानव, मानव नहीं हो सकता। ऐसी बात नहीं है। मानव–जीवन के महत्त्व को भूल जाने से आप कितनी ही बड़ी पदवी पर क्यों न हों, पर आप पराधीन ही हैं, पराश्रित ही हैं। यदि यह व्यथा आपको सताती हो, तो फिर आप अपने इस मानव–जीवन के महत्त्व पर विचार कीजिए।

आपका गौरव तो इस बात में है कि प्रभु ने मानव का निर्माण अपने में से किया है और अपने लिए किया है। सृष्टि का निर्माण भले ही मानव के लिए किया हो, पर मानव का निर्माण प्रभु ने अपने में से किया है और अपने लिए किया है। क्यों ? मानव को छोड़ कर और कोई भी आस्था, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर बिना देखे भगवान् को अपना नहीं कह सकता और मानव को छोड़ कर और कोई भी अपने ज्ञान के द्वारा मिले हुए शरीर से और देखे हुए संसार से सम्बन्ध नहीं तोड़ सकता। यह मानव में ही सामर्थ्य है। जरा और गम्भीरता से सोचिये कि मानव ही बल का सदुपयोग कर सकता है और बल के अभिमान से रहित हो सकता है। मानव ही बुराई का उत्तर भलाई से दे सकता है और भलाई के फल और अभिमान से मुक्त हो सकता है। यह सारी विशेषताएँ केवल मानव में ही हैं।

मानव का अर्थ क्या है ? जो कुछ कर भी सकता है, जो कुछ जानता भी है और जो कुछ मानता भी है। अर्थात् जिसमें करने की सामर्थ्य भी हो – अल्प हो या विशेष, कोई बात नहीं। जिसमें जानने की सामर्थ्य भी हो और जिसमें मानने की भी सामर्थ्य हो। यह तीनों

प्रकार की सामर्थ्य जिसमें होती हैं, उसका नाम मानव है। अथवा यों कहो कि इन तीन तत्त्वों से हम मानव हैं–हम कुछ कर सकते हैं, हम कुछ मानते हैं और हम कुछ जानते भी हैं। तो वह क्या है, जिसके द्वारा हम कर सकते हैं ? उसका नाम बल है। देखो भाई, बिना बल के कोई कुछ कर सकता है क्या ? क्या राय है ? नहीं कर सकता। इसका मतलब हुआ कि मानव को बल मिला है।

बिना ज्ञान के क्या कोई जान सकता है ? नहीं जान सकता। इसका मतलब हुआ कि मानव को ज्ञान मिला है। बिना आस्था, श्रद्धा, विश्वास के क्या कोई मान सकता है ? नहीं। इससे मालूम हुआ कि विश्वास भी मिला है। तो बल, ज्ञान और विश्वास जिसमें हैं, उसका नाम हुआ मानव।

आप देखिए ! मानव के पास जो बल है, वह संसार के काम आता है; जो मानव के पास ज्ञान है, वह उसके अपने काम आता है। मानव में जो विश्वास है, वह भगवान् के काम आता है। अब इस जीवन का महत्त्व इस दृष्टि से देखिए कि इतना बड़ा संसार इस नन्हें से मानव की जरूरत अनुभव करता है। मानव को जो ज्ञान मिला है, उससे मानव निर्मम होकर निर्विकार, निष्काम होकर शान्ति और असंग होकर मुक्ति पाता है। और मानव में जो विश्वास है, उसके द्वारा मानव प्रभु से जातीय सम्बन्ध, नित्य सम्बन्ध एवं आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार कर प्रभु को प्रेम प्रदान कर सकता है।

अब आप सोचिये कि मानव का जीवन कितना सुन्दर हुआ ! संसार भी उसकी आवश्यकता अनुभव करे, भगवान् भी उसकी आवश्यकता अनुभव करे और वह अपने ही ज्ञान से निर्विकार, शान्त और मुक्त हो जाए। यह मानव की महिमा है। आज हमसे भूल क्या हुई ? हमसे भूल यह हुई कि हमने योग्यता और ज्ञान के भेद पर विचार ही नहीं किया। योग्यता और चीज है, ज्ञान और चीज है। ज्ञान तो एक अविनाशी तत्त्व है। उसी ज्ञान से आप बल के दुरुपयोग को अपने प्रति नापसन्द करते हैं, उसी ज्ञान से आप यह

जानते हैं कि संयोग वियोग में बदल रहा है। यह ज्ञान से ही तो जानते हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ ? मुझे बल का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। मुझे निर्मम, निष्काम और असंग हो जाना चाहिए। मुझे आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध, नित्य सम्बन्ध, जातीय सम्बन्ध स्वीकार कर लेना चाहिए।

अगर यह कार्यक्रम आप पूरा कर डालते हैं, तो फिर आप देखिये कि आपके जीवन का कितना महत्त्व है। बल का सदुपयोग करने वाला सभी को चाहिए कि नहीं ? ज्ञानपूर्वक जिसने निर्विकारता, चिरशान्ति, स्वाधीनता प्राप्त की है, वह सभी को पसन्द आता है कि नहीं ? आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक जिसने प्रभु से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करके अपने हृदय को प्रेम से भर लिया है, वह सभी को चाहिए कि नहीं ?

अब आप सोचिये कि अगर आपको इस मानव–जीवन के महत्त्व पर भरोसा होता, तो आज आप तन को बनाये रखने के लिए मोह में आबद्ध न हो जाते। आज आप धन के संग्रह करने के लिए ईमानदारी न छोड़ बैठते। आज आप अपने ज्ञान का अनादर करके पराधीनता में आबद्ध न हो जाते। आज आप अपनी श्रद्धा में विकल्प करके वस्तु, व्यक्ति के विश्वास में आकर अनेक दोषों में आबद्ध न हो जाते।

इसलिए महानुभाव ! मैं कोई अपनी बात नहीं कहना चाहता। मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि आप मानव होने के नाते मानव–जीवन के महत्त्व को अपना कर मानव–जाति के सामने अपने जीवन का चित्र इस प्रकार का रखना पसन्द तो कर लेते कि चाहे कोई मेरे साथ कुछ भी करे, पर मैं बल का दुरुपयोग नहीं करूँगा, मैं अपने ज्ञान का अनादर नहीं करूँगा, मैं अपनी श्रद्धा में विकल्प नहीं करूँगा। मानव–सेवा–संघ ने इन्हीं तीन बातों को सत्संग बताया है। व्याख्यान देने को सत्संग नहीं बताया, पोथी पढ़ने को सत्संग नहीं बताया, गीत गाने को सत्संग नहीं बताया। यह बताया है कि यह तो सत्चर्चा है, सत् चिन्तन है, सत्कार्य है।

पर यह सत्संग नहीं है। सत्संग के बिना कोई भी न तो शान्ति पाता है, न मुक्ति पाता है, न उदार हो पाता है, न स्वाधीन हो पाता है और न प्रेमी हो पाता है।

इसलिए महानुभाव ! इस मानव–जीवन का जो परम पुरुषार्थ है, वह एकमात्र सत्संग है। सत्संग का मतलब क्या ? जो आपके जानते हुए सत्य है–मेरा बताया हुआ नहीं–उसको अपना लेना।

अब आप सोचिये कि कोई भी व्यक्ति सबल से क्या आशा रखता है, रक्षा की या विनाश की ? रक्षा की। तो क्या हमारा बल किसी की रक्षा में लगता है ? यह हम नहीं कहते कि किसकी रक्षा में। बल किसी की रक्षा में लगना चाहिए। हमारा ज्ञान क्या हमारे काम आता है ? तो ज्ञान हमारे काम आना चाहिए। क्या हमारा विश्वास विकल्परहित होकर एकमात्र प्रभु को स्वीकार करता है ? अब आप सोचिये और विचार कीजिये। मुँह से कहे राम–राम और विश्वास करे धन में। यह क्या है ? ईमानदारी है क्या ?

मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि जब मानव बल का दुरुपयोग न करके विश्व–शान्ति में, सुन्दर समाज के निर्माण में भाग ले सकता है, तब वह संसार के लिए उपयोगी हुआ कि अनुपयोगी ? विचार कीजिए। तब वह संसार के लिए उपयोगी हो गया कि नहीं ?

जब मानव अपने ही ज्ञान के द्वारा निर्मम होकर निर्विकार हो सकता है, निष्काम होकर शान्त हो सकता है और असंग होकर मुक्त हो सकता है; तो बताइये कि उसको पोथी के ज्ञान की जरूरत पड़ेगी क्या ? पोथी में इससे अधिक ज्ञान है क्या ? जो ज्ञान मानव में है, वही ज्ञान वेदों में है। योग्यता को जाने दीजिये। विज्ञान में भेद है, सामर्थ्य में भेद है। तो मैं आपसे निवेदन कर रहा था कि आप अपने ही ज्ञान से मुक्ति के अधिकारी होते, आप अपने ही विश्वास से भक्ति के अधिकारी होते और बल का दुरुपयोग न करके सुन्दर समाज के निर्माण में भाग लेते।

लेकिन भूल क्या हुई ? एक चौकीदार आज मानवपन को भूल कर कहता है कि मैं तो बड़ा अभागा हूँ, मैं तो बड़ा दीन हूँ, क्योंकि साहब बहादुर सो रहे हैं और मैं पहरा दे रहा हूँ। अरे ! वह यह नहीं सोचता कि मेरे ही कारण साहब अभय है, वरन् वह सो नहीं सकता। अरे ! मैं खाना पकाता हूँ, साहब खाना खाते हैं, सेठ खाना खाते हैं। वह सोचता है कि मैं दीन हूँ। यह नहीं सोचता कि मैं सेठ और साहूकार के काम आता हूँ, मेरे बिना सेठ–साहूकार जिन्दा नहीं रह सकते। मतलब क्या ? अपने कर्त्तव्य का महत्त्व हम भूल गये और अधिकार हमको पसन्द आता है।

देखिये, कर्त्तव्य का मतलब क्या है ? कर्त्तव्य का मतलब है, दूसरों के अधिकारों की रक्षा। पत्नी होकर पति के अधिकार, पति होकर पत्नी के अधिकार, पुत्र होकर पिता के अधिकार, पिता होकर पुत्र के अधिकार, भाई होकर भाई के अधिकार, व्यक्ति होकर समाज के अधिकार और जीव होकर ईश्वर के अधिकार की रक्षा करना। जो मानव दूसरों के अधिकार की रक्षा के लिए बनाया गया था, वह आज अधिकार–लालसा में आबद्ध होकर किस दुर्दशा में है महाराज ?

एक सज्जन का पत्र अमेरिका से आया। उन्होंने बड़े अच्छे ढंग से लिखा कि बाहर बहुत कड़ी सर्दी है। मैं एयरकंडीशंड कमरे में मलमल का कुरता पहने बैठा हूँ। बाहरी उपचारों की कमी नहीं है। लेकिन यहाँ का इंसान मशीन के समान दिन–रात काम में लगा है, परेशान है। तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता था कि यदि आपका हृदय व्यक्तिगत पीड़ा से पीड़ित है, यदि आपका हृदय मानव जाति की पीड़ा से पीड़ित होता है, तो आप सोचिये कि कौन–सा ऐसा उपाय हो सकता है, जिससे विश्व शान्ति का प्रश्न, जीवन मुक्ति का प्रश्न और भक्ति का प्रश्न हल हो जाए ?

जैसे मकान के लिए सभी आवश्यक कमरों की जरूरत होती है, उसी प्रकार समाज के लिए सभी मानव–श्रेणियों की जरूरत होती है। कोई ईमानदार आदमी यह नहीं कह सकता कि शरीर को

केवल मस्तिष्क ही चाहिए। पैर भी चाहिए, हाथ भी चाहिए, इन्द्रियाँ भी चाहिए, प्राण भी चाहिए। उसी प्रकार अगर आप विश्व–शान्ति के प्रश्न को सचमुच हल करना चाहते हैं, तो आपको क्या करना होगा ? अधिकार–लालसा को छोड़ना होगा और कर्त्तव्यपरायणता को अपनाना होगा।

पर यह बल कब आएगा ? अधिकार–लालसा को छोड़ने का बल कब आएगा ? कर्त्तव्य पालन का बल कब आयेगा ? तब आएगा, जब हम पहले अपने ही ज्ञान के द्वारा अपने को निर्विकार, शान्त और स्वाधीन बनालें। यह बल बाहर से नहीं आएगा, एटम बम से नहीं आएगा। हाइड्रोजन बम के बनाने से यह बल नहीं आएगा। अधिक मिलिटरी बढ़ाने से यह बल नहीं आएगा। आया हो, तो बताओ।

मैंने एक दुःखभरी घटना सुनी। मैंने सोचा था कि हिन्दुस्तान के ऑफीसर बेईमान हैं, पर सम्पन्न देशों के ईमानदार होंगे। महाराज, एक ने ऐसी भीतरी बात बताई। उसने कहा कि महाराज ! अमेरिका में कुछ निश्चित समय के लिए नोट छापे गए। कोई जरूरत पड़ गई होगी। लेकिन अमेरिका के बैंक के डाइरेक्टर ने रिश्वत ली और व्यापारी वर्ग ने समय निकलने के बाद जो नोट खरीद रखे थे या इकट्ठा कर रखे थे, उन पर दस्तखत कर दिए कि यह नोट उसी समय के हैं। मैं एकदम चौंक गया। मैं तो अपने देश की ही इस भूल पर बहुत दुखी था। ऐसे सम्पन्न देश में भी ऐसा होता है।

महाराज ! आप जो बाहरी आडम्बर बढ़ा–बढ़ा कर यह सोचते हैं कि हमारे व्यक्तिगत जीवन में शान्ति होगी, पारिवारिक जीवन में शान्ति होगी, सामाजिक जीवन में शान्ति होगी, राजनैतिक जीवन में शान्ति होगी। नहीं हो सकती, नहीं हो सकती।

मानव–सेवा–संघ की प्रेरणा है, आवाज है कि हे मानव ! तुम अपने महत्त्व का अनुभव करो। तुम बड़े सुन्दर हो। यह तुम्हारी उपार्जित सुन्दरता नहीं है। तुम्हारा निर्माण जिसने किया है, वह सब प्रकार से पूर्ण है। उसके तुम आत्मज हो। उसी से तुम्हारी अभिव्यक्ति

हुई है। इसलिए तुम निर्णय कर लो कि मुझे जो बल मिला है वह दूसरों के लिए है। उसके बदले में मुझे कुछ नहीं चाहिए, कुछ नहीं चाहिए। क्यों ? इसमें कोई बड़े भारी अहसान की बात नहीं है। बल के द्वारा कोई भी कभी भी स्वाधीन नहीं हो सकता, अमर नहीं हो सकता। बोलो, हो सकता है क्या ? मेरी माँग अमर होने की है कि नहीं ? स्वाधीन होने की है कि नहीं ? मेरी यह माँग मिले हुए बल से पूरी नहीं हो सकती। अगर यह बात आपको जँच जाए, तो फिर क्या आप घबराओगे कि चौकीदार बना दिया, मैनेजर क्यों नहीं बनाया ? फिर तो नहीं घबराओगे कि मुझे बर्तन क्यों माँजने पड़ते हैं, हुकूमत करने को क्यों नहीं मिलती ?

लेकिन जब तुम इस बात को भूलते हो और यह सोचते हो कि बल मेरे लिए है, तब मिथ्या अभिमान में आबद्ध होकर सही बात भी करते हो और गलत काम भी करते हो और काम के अधीन हो जाते हो। कामी हो जाते हो, कामी।

इसलिए महानुभाव ! आप मानव हैं। आपके पास जो बल है, वह दूसरों के लिए है। मानव–सेवा–संघ यह नहीं कहता कि बल हमें दे दो। बल चाहे जिसे दे दें, दूसरों के काम में लगा दें। दूसरों के मतलब ? जो अलग हो। जो कभी भी अलग हो सकता है, वह अभी भी अलग है। जो अपने से अलग है, वही है दूसरा। उसकी सेवा में बल लगा दो। उसमें आपका स्थूल शरीर भी है, परिवार भी है, समाज भी है, देश भी है, राष्ट्र भी है।

पर एक बात का ध्यान रखो कि चाहे जिसकी सेवा में बल लगा दें, इसमें कोई आपत्ति नहीं होगी। कल्पना करो कि कोई सेवा न बने, तब भी कोई विशेष हानि नहीं होगी। इससे आपकी हानि तो होगी, समाज की हानि नहीं होगी। समाज की हानि होती है बल के दुरुपयोग से। व्यक्ति का विकास होता है बल के सदुपयोग से।

यह बड़े रहस्य की बात है, एक दार्शनिक बात है। गम्भीरता से यदि आप विचार करेंगे, तो पता लग जाएगा कि यह बात आपकी

है। मैं जो कह रहा हूँ, यह मेरी बात नहीं है। मैं इस आधार को लेकर नहीं कह रहा हूँ कि यह हमारे गुरु की बात है, इसलिए आप मान लीजिए या हमारे मजहब की बात है, इसलिए आप मान लीजिए या हमारे वेदों की बात है, इसलिए आप मान लीजिए। मैं आपसे यह नम्र निवेदन करना चाहता हूँ कि यह आपकी अपनी बात है। हाँ, वेदों ने इसका समर्थन किया है, गुरुजनों ने इसका समर्थन किया है। यह बात अलग है। यह वेद–विरोधी बात नहीं है, गुरुजन–विरोधी बात नहीं है। लेकिन है यह बात आपकी, आपकी, आपकी। कौनसी बात ? बल अपने लिए नहीं है, यह मनुष्यमात्र की अपनी बात है।

ज्ञान अपने लिए है और विश्वास प्रभु के लिए है। प्रभु से भिन्न और कोई विश्वासपात्र नहीं है। आपके ज्ञान से ही आप मुक्त हो सकते हैं। बाहर का ज्ञान आपको मुक्त नहीं कर पायेगा। पोथी तो आपने बहुत पढ़ी हैं। आत्मवत् सर्वभूतेषु का पाठ बहुत किया। नैनं छिन्दन्ति का पाठ तो बहुत किया, पर मरने का भय नहीं गया और अपनी लुगाई को भी अपने बराबर समझ नहीं पाये। आत्मवत् सर्वभूतेषु की बात कहना अलग है। इसलिए बाहर का जो ज्ञान है, वह आपके ज्ञान का समर्थक है, कोई नया ज्ञान नहीं है।

हम आपको क्या बताएँ ? जहाँ देखो वहाँ योग के नाम पर शारीरिक जिमनास्टिक होती है, लोग उसमें गौरव समझते हैं। आज ज्ञान के नाम पर पोथी पढ़ी जाती हैं, लोग उसमें गौरव समझते हैं। आज विश्वास के नाम पर आप क्या–क्या करते हो ? इस बात को सोचिए। इस बात को अपने हृदय में रखिए कि विश्वास प्रभु के लिए है। प्रभु माने, जिसको देखा नहीं, सुना है। सुने हुए के लिए विश्वास और ज्ञान देखे हुए के लिए है और बल संसार के लिए है। बल संसार के लिए है, आपके लिए नहीं। ज्ञान आपके लिए है। ज्ञानपूर्वक आप जीवन–मुक्ति का आनन्द ले सकते हैं, चिरशान्ति पा सकते हैं, निर्विकारता अभी प्राप्त कर सकते हैं।

विश्वास प्रभु के लिए है। इस विश्वास के आधार पर आप भक्ति प्राप्त कर सकते हैं। अगर यह बात आपको अपनी करके जँच जाए, रुच जाए, पसन्द आजाए, तो अपना लीजिए। अल्प बल वाला अपना अभिनय करे ठीक–ठीक। विशेष बल वाला अपना अभिनय करे ठीक–ठीक। लेकिन एक बात तो बताओ भैया, अभिनय कैसा ही हो, अभिनयकर्त्ता के लिए कोई छोटा–बड़ा होता है क्या ? अभिनय विधिवत् करना चाहिए, ठीक–ठीक करना चाहिए। यही अभिनय की महत्ता होती है।

अभिनय में यह महत्ता नहीं होती कि मैं तो ब्राह्मण का लड़का हूँ, मुझे आपने भंगी का अभिनय क्यों दे दिया ? इस सम्बन्ध में एक बड़ा ऐतिहासिक प्रमाण है। एक बार बंगाल में नील दर्पण नामक ड्रामा खेला गया। उस समय अँग्रेज जाति के लोग बिहार में नील की कोठियों के मालिक और जमीदार थे। वे काश्तकारों के साथ जो जुल्म करते थे, उस ज़ुल्म को दिखाने के लिए नील दर्पण नामक ड्रामा कलकत्ता में खेला गया। उसमें ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी दर्शक थे। उसमें जो अभिनयकर्त्ता अँग्रेज बन कर जुल्म दिखा रहा था, उसको देखकर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे शान्त महापुरुष के मन में क्षोभ हो गया। वे कुर्सी पर बैठे थे। उन्होंने जूता उतार कर फेंक कर उस अभिनयकर्त्ता पर मारा। उसने जूता सिर पर लिया और कहा कि "हुजूर, जूता इनाम ! मेरा काम पूरा हुआ।" उसने कहा कि मुझे तो बताना था कि अँग्रेज क्या जुल्म कर रहे हैं ?

इसी तरह से अगर हम और आप अपने दैनिक जीवन में जो भी अभिनय मिला है, जैसे मुझे भिक्षा माँगने का मिला है, आपको दाता का मिला है। जो भी अभिनय मिला है, अगर हम अभिनय को ठीक विधिवत् इस लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए करें कि भाई, हमारा अभिनय परिवार, समाज, संसार के लिए उपयोगी हो जाए। यानी जो भी आप कार्य करते हैं, उसका उपयोग तो इतना ही है कि वह परिवार के लिए, समाज के लिए, संसार के लिए उपयोगी हो जाए।

किसी के लिए भी अनुपयोगी न हो। अगर इस प्रकार की भावना आजाए, तो आप भी मुक्त, चौकीदार भी मुक्त, साहूकार भी मुक्त, क्लर्क भी मुक्त, ऑफीसर भी मुक्त, अंधा भी मुक्त और आँखों वाला भी मुक्त, भिखारी भी मुक्त और दाता भी मुक्त। अगर हम संसार में मुक्त हो कर रहें, अगर हम शान्त होकर रहें, अगर हम अमर हो कर रहें, तो फिर हमारे लिए संसार से कुछ चाहिए, यह प्रश्न समाप्त हो जाता है।

फिर कहीं भक्त होकर रहो, तो क्या ही अच्छी बात है ! आप मुक्त हो जाएँ, भक्त हो जाएँ, शान्त हो जाएँ। तब फिर हमारे जीवन में वह विकार जिसके मिटाने के लिए लोगों ने राष्ट्र की कल्पना की, लेकिन विकार मिटा नहीं। प्रणालियाँ बदलीं, पर बुराई मिटी नहीं। मजहब का निर्माण हुआ, पर बुराई मिटी नहीं। क्यों नहीं मिटीं ? हमने अपने जीवन के महत्त्व को तो भुला ही दिया।

मैं कोई नई बात बताने नहीं बैठा हूँ। मैं केवल आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि आप मानव होने के नाते अपने महत्त्व को आँक लेते, उस पर थोड़ा विचार कर लेते और मानव होना पसन्द करते। तो मेरे जानते, बाहरी जितने भेद हैं, वे आपको अशान्त नहीं कर सकते और उन भेदों के बीच में आप एक गहरी एकता का अनुभव करते। उस विषमता के बीच में एक गहरी समता का अनुभव करते। इस हलचल के बीच में आप एक अद्भुत अलौकिक अद्वितीय जीवन का अनुभव करते। कब ? जब आप मानव होने के नाते अपने जीवन का मूल्यांकन करते।

आज हमसे बड़ी भारी भूल यह हो जाती है कि आज हम मानव होने के नाते अपने जीवन का मूल्यांकन ही नहीं करते। परिस्थिति के ऊपर मूल्यांकन करते हैं। भैया ! सभी परिस्थितियाँ अभाव रूप हैं। कोई अभावरहित परिस्थिति है नहीं, हुई नहीं, हो सकती नहीं,आगे कभी होगी नहीं। सभी परिस्थितियाँ अभावरूप हैं। अभाव के रहते हुए, कमी के रहते हुए आप शान्ति नहीं पा सकते,

स्वाधीनता नहीं पा सकते, परम प्रेम को नहीं पा सकते। शान्ति के बिना योग नहीं मिलता, स्वाधीनता के बिना बोध नहीं होता और प्रेम बिना नित–नव रस की अभिव्यक्ति नहीं होती।

मानव की माँग है योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति। दशा क्या है ? भोग, मोह और आसक्ति में आबद्ध। जहाँ भोग रहता है, वहाँ मोह और आसक्ति रहती ही है। ऐसे ही जहाँ योग होता है, वहाँ बोध और प्रेम रहता है। तो भोग में आबद्ध न हो कर, योग प्राप्त कर लेते। योग किसके साथ होता है ? जो सदैव है, सर्वत्र है, सभी का है, उसके साथ योग होता है। योग किसके साथ नहीं होता ? जो कभी है कभी नहीं है, जो कहीं है और कहीं नहीं है और जो किसी के पास है किसी के पास नहीं है, उसके साथ योग नहीं हो सकता।

जो सदैव है, वह अभी भी तो है। वह चला कहाँ गया है ? जो सर्वत्र है, वह अपने में भी तो है। जो सभी का है, वह अपना भी तो है। आप विचार कीजिए। अपने में अपना जीवन–धन है, इसको कहते हैं विश्वास।

ज्ञान क्या है ? मेरा करके किसी भी काल में कुछ नहीं है। गौर कीजिए। मेरा करके इस संसार में कुछ नहीं है। जब मेरा करके कुछ है ही नहीं, तो संसार से मुझे मिलेगा क्या ? क्या राय है ? कुछ नहीं मिलेगा। संसार में मेरा कुछ नहीं है, संसार से मुझे कुछ नहीं मिलेगा। यह तो ज्ञान से सिद्ध है। जो सदैव है, सर्वत्र है, सभी का है, अद्वितीय है, समर्थ है; वह सदैव होने से अभी भी है, सर्वत्र होने से अपने में भी है, सभी का होने से अपना भी है। तो अपने में अपना प्रीतम है, यह हुआ आस्तिकवाद। मेरा करके कुछ नहीं है, यह हुआ अध्यात्मवाद। बल संसार के लिए है, यह हुआ भौतिकवाद। तीन ही दृष्टिकोण होते हैं।

कोई कहेगा कि संसार है, कोई कहेगा कि मैं हूँ, कोई कहेगा कि परमात्मा है। दर्शन का आरम्भ भी 'यह' से होता है और 'परमात्मा' में समाप्त होता है। तीनों ही दृष्टियों से आप इतने सुन्दर

हैं कि भौतिकवाद की दृष्टि से संसार को आपकी माँग रहती है, अध्यात्मवाद की दृष्टि से आपका अपना करके कुछ नहीं है। और आस्तिकवाद की दृष्टि से प्रेम का दान मानव कर सकता है और प्रेम का पान भगवान् कर सकता है। न कोई और प्रेम का दान कर सकता है, न कोई प्रेम का पान कर सकता है।

मैं यह निवेदन कर रहा था कि आज इस बात की आवश्यकता है कि हर भाई, हर बहिन अपने द्वारा अपने सम्बन्ध में सोने से पहले, जगने के बाद विचार करे कि मेरे पास जो कार्य करने की क्षमता है, उसके द्वारा कोई ऐसा कार्य नहीं करूँगा, जो किसी के लिए भी अहितकर हो। यह है, धर्म–विज्ञान। उसके बाद सोचें कि क्या सचमुच मेरा करके कुछ यहाँ है ? अनुभव बताएगा कि कुछ नहीं है। यह है, अध्यात्मवाद। इस अनुभव से मुक्त हो जाओ। सभी का सर्वत्र जो आनन्दघन प्रभु है, वह मेरा भी है, मैं उसका हूँ। इस नाते से प्रभु से जातीय सम्बन्ध स्वीकार करो। देखिए, ईश्वरवादी किसे कहते हैं ? जो अपने को ईश्वर की जाति का माने, जो ईश्वर से नित्य सम्बन्ध माने और जो ईश्वर से आत्मीय सम्बन्ध माने, उसका नाम ईश्वरवादी है।

विश्वास के द्वारा हम सब प्रभु से जातीय एकता, नित्य सम्बन्ध, आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करें और बल के द्वारा विश्व के काम आजाएँ। शरीर का विश्व से विभाजन नहीं हो सकता। प्रत्येक कार्य संसार का कार्य है। इस व्यापक भाव से संसार के काम आ जाएँ। और ज्ञान के द्वारा हम निर्विकार, शान्त और स्वाधीन हो जाएँ। तब आप देखिए कि इस जीवन से मानव–जाति का बहुत हित होगा और वह समय आ जाएगा कि हर आदमी कहेगा कि मैं मानव हूँ, मुझे वह जीवन प्राप्त है, जो कभी भी किसी भी महामानव को प्राप्त हुआ है। यही मानव–जीवन का मूल उद्देश्य है।।ॐ।।

३८ (ब)

प्रवचन:

ज्ञानपूर्वक असंग होकर निर्ममता, निर्विकारता, शान्ति ?, मुक्ति पा सकते हैं और आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक शरणागत होकर भक्ति पा सकते हैं। जो चीज इस जीवन में मिल सकती है, उसको प्राप्त करने पर फिर आगे के जीवन का प्रश्न ही नहीं रहता। यदि इस मानव योनि का ठीक–ठीक लाभ नहीं उठाया, तो भोग योनि मिलेगी। भोग योनि की तो संख्या बहुत है, इसलिए इंसानी जिन्दगी में यह आजादी है हर भाई को, हर बहन को कि वह सत्संगी होकर मुक्ति, शान्ति, भक्ति, सेवा, त्याग और प्रेम का आनन्द प्राप्त कर सकता है। इसमें वह पराधीन नहीं है, असमर्थ नहीं है। क्यों नहीं है ? इसी जीवन के लिए तो यह मानव–जीवन मिला है। जिसने यह मानव–जीवन दिया है, उसका यह संकल्प है कि हर भाई, हर बहन सत्संगी होकर साधननिष्ठ हो जाए अर्थात् शान्ति, मुक्ति, भक्ति पा जाए। यह मानव के बनाने वाले का संकल्प है।

अब आप कहेंगे कि मानव का बनाने वाला कौन है ? जो सृष्टि का मालिक है, जो सृष्टि का बनाने वाला है, वही मानव का बनाने वाला है। अब आप कहेंगे कि मानव किस कर्म से बनता है ? कौन से कर्म का फल है, जिससे इस सृष्टि का मालिक हमें मानव–जीवन देता है ? इस सम्बन्ध में मेरा अपना विचार यह है कि मानव–जीवन किसी कर्म का फल नहीं है, क्योंकि मानव होने के बाद कर्म करने की स्वाधीनता मिलती है। सबसे पहले जो मानव का जन्म होता है, वह तो भगवत्–कृपा से ही होता है। वह किसी कर्म का फल नहीं है। हाँ, जब मानव मानवता को भूल जाता है, तब वह स्वयं भोग योनि में सुख–दुःख का भोग करता है। फिर प्रभु कृपा से मानव–जीवन मिलता है।

इस दृष्टि से इस इंसानी जिन्दगी की बहुत बड़ी महिमा है, क्योंकि इसके बनाने वाले ने अपनी कृपा से ही इसे बनाया है। मानव होने की पहचान क्या है ? देखो, जिसे अपने साथ होने वाली बुराई का ज्ञान हो जाए, समझ लो कि वह मानव है। अब आप सोचिये कि क्या आप लोगों को बुराई का ज्ञान नहीं है ? अगर कोई आपके साथ बुराई करता है, आपको बुरा समझता है, आपका बुरा चाहता है, तो क्या यह बात आपको अच्छी मालूम होती है ? अच्छी नहीं मालूम होती।

इससे यह सिद्ध हुआ कि आपको इंसानी जिन्दगी मिल गई। क्यों ? क्योंकि, आप बुराई को जानते हो। जो बुराई को जानता है, उसे इस बात की आजादी है, स्वाधीनता है कि वह बुराई न करे। इस जीवन का सबसे पहला काम क्या है ? हम जिस बुराई को बुराई जानते हैं, उसको न करें। यानी जानी हुई बुराई को न करें। अगर कर चुके हैं, तो उसको दोहराएँ नहीं। बार–बार न करें, उसे छोड़ दें। तो बुराई के छोड़ने मात्र से ही हम सब भले हो जाते हैं।

यहाँ एक बात बड़े रहस्य की है। लोग यह सोचते हैं कि जब हम भलाई करेंगे, तब भले होंगे। पर बात ऐसी नहीं है। बात ऐसी मालूम होती है कि बुराई नहीं करेंगे, तब भले होंगे। इससे क्या सिद्ध हुआ ? इससे यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि हम भले होने में स्वाधीन हैं। बिना कुछ भलाई करे हुए, बुराई छोड़ करके हम भले हो सकते हैं। यह बड़ी सुन्दर बात है। बहुत ही ऊँचा और पवित्र विधान है कि बुराई छोड़ने से हम भले हो जाते हैं। जैसे, कोई झूठ नहीं बोलेगा, तो अपने आप सभी सत्यवादी हो जाएँगे। ऐसा विधान है।

हमारे–आपके ऊपर सबसे पहली जिम्मेदारी क्या है ? हम भले हो जाएँ। आज लोग बिना भले हुए बल पूर्वक भलाई करते हैं। जैसे, झूठ भी बोलते रहते हैं और सच भी बोलते हैं। यानी बुराई के साथ–साथ भलाई करते हैं। बेईमानी भी करते हैं और दान भी देते हैं। किसी को हानि भी पहुँचाते हैं, और किसी को लाभ पहुँचाते हैं।

यह जो दशा है, यह सही दशा नहीं है। हमें सेन्ट–पर–सेन्ट बुराई–रहित होना है। भलाई आप करें अथवा न करें। इससे कोई बहुत बड़ी हानि समाज की नहीं होती। लेकिन बुराई करने से संसार की हानि होती है और जिससे संसार की हानि होती है, उससे अपनी भी हानि होती है। हम लोग इस बात को भूल जाते हैं और यह सोचने लगते हैं कि हमने जिसको नुकसान पहुँचाया है उसी का नुकसान होगा, हमारा नहीं होगा। पर यह बात नहीं है। उसका नुकसान कम होगा और हमारा अधिक होगा। क्यों ? हमारी सामर्थ्य कम है, इसलिए हम दूसरों को कम नुकसान पहुँचा सकते हैं। लेकिन प्रकृति में सामर्थ्य अधिक है। वह नुकसान पहुँचाने वाले को ज्यादा नुक़सान पहुँचाती है।

इसलिए अगर आपको अपनी हानि से बचना है, तो बुराई करना छोड़ना होगा। और कोई उपाय नहीं है, जो आपको अपनी हानि से बचा सके। आपकी बुराई न करने वाली जो बात है, उसी से आप अपनी हानि से अपने को बचा सकते हैं। अगर यह बात आपकी समझ में आ जाए, ठीक मालूम हो, तो जो हो गया सो हो गया। आगे आपकी कोई हानि न हो, इस बात में आप पराधीन नहीं हैं। इस बात में आप स्वाधीन हैं कि आप बुराई छोड़कर अपने भविष्य को उज्ज्वल बना सकते हैं, अच्छा बना सकते हैं।

यानी बुराई न करने से आपका जो भविष्य है, आगे आने वाला जो जीवन है, वह बहुत अच्छा हो सकता है। और कोई उपाय नहीं है कि जिससे हम अपने आगामी जीवन को अच्छा बना सकें। एक ही उपाय है कि वर्तमान जीवन में, अभी हाल में अपने जानते, कोई भी बुराई न करें। तो भविष्य में हमारी कोई हानि नहीं होगी। कहीं भलाई बन गई, तो लाभ होगा। भलाई के अभिमान और फल को छोड़ दिया, तो आप मुक्त होंगे और भक्त होंगे। अब यह तीन बातें आपके सामने हैं–आप जब बुराई नहीं करेंगे, इतने मात्र से आप भले हो जायेंगे। फिर आपके द्वारा अपने आप यथाशक्ति भलाई होगी।

जितनी चाहें उतनी नहीं कर सकते, लेकिन कुछ न कुछ जरूर करेंगे। की हुई भलाई का अगर आप अभिमान छोड़ देंगे और उसका फल नहीं माँगेंगे, तो आप मुक्त हो जाएँगे। आप जानते हैं, दूसरा जन्म कब होता है ? बुराई–भलाई का फल भोगने के लिए होता है।

इंसान होने के बाद अगर आप मुक्त नहीं हुए, अगर आप भक्त नहीं हुए, तो दूसरा जन्म जो होगा वह बुराई–भलाई का फल भोगने के लिए होगा। जब आपने बुराई करना छोड़ दिया और भलाई का अभिमान छोड़ दिया, तो फिर आपका जन्म ही नहीं होगा। तो क्या होगा ? आप मुक्त होंगे। आप मुक्त होंगे, तो क्या होगा ? आप अविनाशी, अमर, स्वाधीन, रसरूप जीवन से अभिन्न हो जाएँगे। यह एक विधान की बात है, कानून की बात है। विधान का अनादर करना अपने द्वारा अपना विनाश करना है। हाँ, तो मैंने आपके जीवन का विधान सामने रख दिया कि भाई, बुराई छोड़ कर भले हो जाओ, भलाई का अभिमान और फल छोड़कर मुक्त हो जाओ और मुक्त होकर भक्त हो जाओ।

भलाई होने से सुन्दर समाज का निर्माण हो जाता है और विश्व–शान्ति का प्रश्न हल हो जाता है। जैसा कि मैंने निवेदन किया कि जब तक हर भाई, हर बहन के जीवन में यह क्रान्ति नहीं आएगी कि हम इंसान हैं और इंसान होने के नाते हम जानी हुई बुराई नहीं कर सकते, हम की हुई बुराई नहीं दोहरा सकते, तब तक विश्व–शान्ति का प्रश्न हल नहीं हो सकता। जब यह क्रान्ति अपने जीवन में अपने द्वारा ले आएँगे, तब समाज में जितने संघर्ष हैं, सब मिट जायेंगे। संघर्ष का मूल किसी न किसी प्रकार की बुराई है। जब आप बुराई करेंगे नहीं, तो संघर्ष होगा नहीं। जब संघर्ष नहीं होगा, तो सबको लाभ ही लाभ होगा, हानि किसी की नहीं होगी।

देखिए, संघर्ष से कभी किसी का लाभ नहीं हुआ। अगर किसी ने किसी को हानि पहुँचा दी, तो जिसने हानि पहुँचाई है, उसकी भी हानि ही होती है। सन् १९१४ में एक विश्व–व्यापी युद्ध हुआ। उन

दिनों अँग्रेजों का इतना बड़ा राज्य था कि यह कहावत थी कि उनके राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता। वह संसार के इतिहास में पहले नम्बर की पावर थी। हालाँकि उस लड़ाई में अँग्रेज सरकार विजयी हुई, पर वह पहले नम्बर की पावर नहीं रह गई। हिटलर ने बहुत बड़ा युद्ध किया। अन्त में वह बरबाद ही हुआ। त्रेता में अत्याचारी रावण की हार हुई, राम विजयी हुए। द्वापर में महाभारत हुआ, अनीति करने वाले कौरवों की हार हुई और मिटे। इससे क्या सिद्ध हुआ ? लड़ाई से कभी किसी का लाभ नहीं हुआ।

लड़ाई क्यों होती है ? इस पर गौर किया जाए, तो साफ मालूम होता है कि जब समाज मे सुखियों की संख्या कम हो जाती है और दुखियों की संख्या बढ़ जाती है, सुखियों में उदारता नहीं रहती और दुखियों में त्याग नहीं रहता, तब लड़ाई होती है। सैन्ट–पर–सैन्ट न कोई सुखी होता है, और न कोई दुखी होता है। किसी–न–किसी अंश में हम सभी सुखी और दुखी होते हैं। यानी सर्वांश में कोई सुखी या दुखी नहीं होता, आंशिक सुख और आंशिक दुःख होता है। हाँ, ऐसा भी होता है कि किसी के जीवन में दुःख का हिस्सा अधिक हो, सुख का कम हो और किसी के जीवन में सुख का हिस्सा अधिक हो, दुःख का कम हो। सर्वांश में कोई सुखी हो और सर्वांश में कोई दुखी हो, ऐसा देखने में नहीं आता।

जीवन में दो ही बातें रहेंगी कि जिस अंश में हम सुखी हैं, उस अंश में हम दूसरों की सेवा करेंगे और जिस अंश में हम दुखी हैं, उस अंश में त्याग को अपनाएँगे। ऐसा करने से सुखी और दुखी के बीच एकता हो जाती है। जब सुखी और दुखी के बीच एकता हो जाती है, तो फिर संघर्ष कैसे होगा ? दूसरी बात यह है कि जैसे सुखी को उदार होना चाहिए, ऐसे ही दुःखी में त्याग भी आना चाहिए। क्योंकि अगर त्याग नहीं आएगा, तो आपको जितना मिलेगा, कम मालूम होगा और जब कम मालूम होगा, तो आपके मन का क्षोभ नहीं मिटेगा, क्रोध नहीं मिटेगा। जब मन का क्षोभ और क्रोध नहीं मिटेगा, तो पहले मन में द्वन्द्व होगा और फिर बाहरी लड़ाई

होगी। यह जो लड़ाइयाँ होती हैं, एक दम बाहर से नहीं होतीं। पहले लड़ाई मन में होती है। एक दूसरे को बुरा समझते रहते हैं, गैर समझते रहते हैं, एक दूसरे को हानि पहुँचाने की सोचते रहते हैं। जब हमारे मन की यह दशा होती है, तब आगे चल कर एक दम बहुत बड़ी बाहरी लड़ाई शुरू हो जाती है।

बहुत दिनों की बात है, एक सज्जन आकर कहने लगे कि कल हमारे अमुक पड़ौसी के साथ हमारे लड़कों का झगड़ा हो गया। हमने तो पड़ौसी को कोई नुकसान पहुँचाया नहीं था। हमने कहा कि यह नहीं हो सकता कि तुम्हारा कोई कसूर न हो और लड़ाई हो जाए। तुम एक बात बताओ, तुम्हारे मन में उस पड़ौसी के प्रति कोई खिलाफ आवाज उठती थी क्या, कोई बुरा ख्याल आता था क्या ? तो कहने लगे कि स्वामी जी, जब वह अकड़ कर चलता था, जवानी के जोश में मालूम पड़ता था, तो ऐसा मन में आता था कि देखो, कितना ऐंठ कर निकलता है ? इसे नीचा दिखाना चाहिए। मैंने कहा कि तुम्हारे उस ख्याल ने ही उसके मन में बुरा ख्याल मजबूत किया और लड़ाई हो गई। आज एक देश दूसरे देश को, एक वर्ग दूसरे वर्ग को, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को किसी–न–किसी रूप में बुरा समझता रहता है, गैर मानता रहता है। उस मानी हुई गैरियत का यह नतीजा होता है कि आपस में झगड़ा हो जाता है। आपने यह विचित्र बात भी देखी होगी कि जब दोनों अच्छी तरह पिट जाते हैं, तब समझौता करने की सोचते हैं। ऊपर से समझौता करते हैं और भीतर से यह सोचते रहते हैं कि जब कभी मौका मिलेगा, तब खूब नुकसान पहुँचाएँगे।

मानव–सेवा–संघ ने यह बात बताई कि अगर आप गम्भीरता से देखेंगे, तो सबसे बड़ा द्वन्द्व मन और बुद्धि के बीच में होता है। मानलो, मन कहता है कि आम खाएँगे और बुद्धि कहती है कि आम नुकसान करेगा, तो मन और बद्धि के बीच झगड़ा हो गया। ऐसे ही घर में स्त्री कहती है कि आफिस से आकर वे कहाँ चले जाते हैं, घर

में बहुत देर से आते हैं। उसके मन पति में की बुराई दिखाई देती है। पति सोचता है कि जब मैं घर आता हूँ, तो आते ही वह कोई न कोई फरमाइश करती रहती है। कभी हँस कर नहीं मिलती, बैठती और यह नहीं पूछती कि मैं थक कर आया हूँ। पर वह कोई न कोई अपनी जरूरत बताती रहती है। और कुछ नहीं, तो बच्चों का ही झगड़ा सुनाती रहती है।

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि जीवन में, परिवार में, समाज में यह जो संघर्ष होता है, वह एकदम नहीं हो जाता। हमारे–आपके मन में ही वह लड़ाई पैदा होती है। अगर हमारा–आपका मन इस बात को मानले कि भाई, किसी न किसी नाते हम सब एक हैं। जैसे, सोचिये कि जब एक ही सूर्य हम सबको प्रकाश देता है, तो सूर्य के नाते हम सब एक हो गए। एक ही हवा सबको साँस लेने देती है, तो हवा के नाते एक हो गए। एक ही जल सबकी प्यास बुझाता है, तो जल के नाते एक हो गए। एक ही भूमि पर हम सब रहते हैं, तो भूमि के नाते एक हो गए। देश के नाते एक हो गए, वर्ग के नाते एक हो गए, गाँव के नाते एक हो गए, कुटुम्ब के नाते एक हो गए। यह आप नहीं कह सकते कि कोई ऐसा है जिससे हमारा सम्बन्ध ही नहीं है। यानी सभी हमारे अपने नहीं हैं, ऐसा आप नहीं कह सकते।

यह बात अलग है कि कोई माँ–बाप के नाते सहोदर भाई–बहन हैं, तो कोई चचेरे भाई–बहन हैं, तो कोई गाँव के नाते से भाई–बहन हैं, कोई देश के नाते से, कोई जाति के नाते से, कोई संसार के नाते से। पर सच बात तो यह है कि अगर आप खुदा परस्त हैं, हक़ परस्त हैं, तो परमात्मा के नाते हम सब एक हैं। आत्मा के नाते हम सब एक हैं, सत्य के नाते हम सब एक हैं।

यह जो इंसानी जिन्दगी की खूबी है कि इंसान सभी को एक मान सकता है। उसके लिए सब एक हैं। जब इस सत्य को मनुष्य भूल जाता है या नहीं अपनाता है और फिर किसी को अपना, और

किसी को पराया मान लेता है, तो बस, यहीं से भेद उत्पन्न होता है और भेद से ही संघर्ष उत्पन्न होता है। इसलिए मानव–सेवा–संघ ने यह बात बताई कि भाई देखो, परमात्मा के नाते, आत्मा के नाते, जगत् के नाते हम सब एक हैं।

'मैं' हूँ, ''यह'' है और "परमात्मा" है। तो मैं कहो, चाहे आत्मा कहो। 'यह' कहो, चाहे जगत् कहो। परमात्मा कहो, चाहे 'है' कहो। तो 'यह' के नाते भी हम एक, 'मैं' के नाते भी हम एक, और 'है' के नाते भी हम एक। वास्तव में अनेक भेद होने पर भी हम सब एक ही हैं। इस मूल सत्य को अगर हम स्वीकार कर लें कि हम सब एक हैं, तो अपने के साथ किसी के मन में बुराई करने की बात नहीं आती। क्या राय है ? देखिए, मैं सोच ही नहीं सकता कि वह कैसा भगवत्–भक्त है, कैसा हक़ परस्त है, कैसा खुदा परस्त है, जो किसी को गैर मानता हो और किसी से कुछ आशा रखता हो ? देखिए, खुदा परस्त कहो, हक़ परस्त कहो, भगवत्–भक्त कहो, कौन होता है ? जो सभी को अपना मानते हुए सभी की सेवा में भाग लेता है। क्यों ? सभी को अपना मानने के बाद जो सभी का मालिक है, वही अपना होता है। सभी अपने होते हैं सेवा करने के लिए और अपने लिए अपना वही होता है, जो सभी में है, सभी का है। वही अपना भी है। तात्पर्य क्या निकला ? अपने लिए परमात्मा है। और कोई चीज अपने लिए नहीं है। अपने पास जो बल है, अपने पास जो योग्यता है, अपने पास जो वस्तु है, वह संसार की सेवा के लिए है।

यह सत्य अगर हम स्वीकार कर लें, तो मिले हुए बल के द्वारा हानि किसी को नहीं पहुँचाएँगे। देखिए, किसी को हानि न पहुँचाना भी एक सेवा है। सेवा छोटी हो या बड़ी हो, समान फल देती है। जो किसी को हानि नहीं पहुँचाता और जो सभी को लाभ पहुँचाता है, उन दोनों को आन्तरिक फल समान मिलता है। क्यों ? इसमें बड़ा भारी विज्ञान है, साइंस है। जो कभी किसी को किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाता, उसकी पर्सनलिटी लिमिटेड नहीं

रहती, विभु हो जाती है व्यापक हो जाती है। अथवा यों कहो कि उसका सम्बन्ध असीम, अनन्त, अविनाशी से हो जाता है। जो सबको भलाई पहुँचाता है, उसका सम्बन्ध भी असीम अनन्त से हो जाता है। तो बुराई छोड़ देने से और भलाई का अभिमान और फल छोड़ देने से दोनों को वही असीम, अनन्त, अविनाशी जीवन मिल जाता है।

अब आप सोचिये, किसी के पास बल बिल्कुल न हो, ऐसा भी कोई नहीं है। जिसके पास बल नहीं है, उसके द्वारा क्या कोई बुराई हो सकती है ? नहीं हो सकती। जिसके द्वारा बुराई नहीं हो सकती, वह क्या बुरा रह सकता है ? कदापि नहीं। जो बुरा नहीं रह सकता, वह भला हो जाता है। एक बात और भी है कि बुराई–रहित होना जितनी बड़ी सेवा है, भलाई करना उतनी बड़ी सेवा नहीं है। बल्कि यह कहना चाहिए कि भलाई करना तो जो बल आपके पास है, उसके संग्रह का प्रायश्चित्त है। और बुराई न करना असली पुरुषार्थ है। इस दृष्टि से बुराई न करना बहुत बड़ी चीज है। भलाई करना तो ऐसा समझिये कि जैसे हमारे पास अंजीर रखे हुए हैं, वे खराब हों, इसलिए बाँट दो। अंजीर रखने का प्रायश्चित्त हुआ, बाँटना। वह कोई बड़ी भारी बात नहीं है। खुद खा नहीं सकते, तो बाँटेंगे। और करें क्या ?

तो मैं यह निवेदन कर रहा था कि सबसे बड़ा आदमी जिसको सुपर मैंन कहें, अति मानव कहें, वह कौन है ? जिसके जीवन में किसी प्रकार की बुराई नहीं है, वह सबसे बड़ा आदमी है। किसके जीवन में बुराई नहीं होती ? जो सचमुच कभी किसी से कुछ नहीं चाहता। किसी को दो भागों में बाँट लो–'यह' और 'वह'। 'यह' माने, संसार और 'वह' माने परमात्मा। जो संसार और परमात्मा से कुछ नहीं चाहता, उसके जीवन में बुराई पैदा नहीं होती।

बुराई कब पैदा होती है ? जब हम संसार से कुछ चाहते हैं। आप कहेंगे कि महाराज ! हमने तो महात्माओं को भी भिक्षा माँगते देखा है, रोटी खाते देखा है। उन्हें भी रोटी चाहिए। तो सोचने की

बात यह है कि अगर वह महात्मा शरीर को संसार का न मानकर अपना मानता है, तब तो वह महात्मा ही नहीं है। अथवा सब कुछ परमात्मा का न मान कर अपना मानता है, वह भी महात्मा नहीं होता। वन में जाने से, कपड़े रँगने से कोई महात्मा नहीं हो जाता। महात्मा होने के लिए यह दो बातें बहुत जरूरी हैं कि बड़ी ईमानदारी के साथ, सच्चाई के साथ अपने द्वारा अनुभव करे और यह जान ले कि सचमुच इस संसार में मेरा करके कुछ नहीं है। आप जानते हैं कि शरीर और संसार को आप अलग नहीं कर सकते। कोई कर सकता हो, तो बताओ। शरीर और संसार का विभाजन नहीं हो सकता। जिसने यह अनुभव कर लिया कि संसार में मेरा करके कुछ नहीं है, उसमें किसी प्रकार की कामना पैदा नहीं होती।

देखिए, आँख बन्द करके, कान बन्द करके, बहुत घोर तप करके कामना का नाश नहीं होता, कामना का नाश होता है, जब हम यह मान लें और अच्छी तरह जान लें कि भाई, मेरा करके इस संसार में कुछ नहीं है। तब कामना का नाश होता है। अगर हम और आप विचार करें, तो हमारे–आपके पास जो ज्ञान है, उससे यह बात सिद्ध हो जाती है। अगर मैं इस बोलने वाली वाणी को अपनी मान मान लेता हूँ, तो क्या जब तक चाहूँ, बोल सकता हूँ ? नहीं बोल सकता। तो फिर यह वाणी मेरी कैसे हो गई ? जिस पर मेरा स्वतन्त्र अधिकार नहीं हो सकता, वह चीज मेरी हो सकती है क्या ? नहीं हो सकती। फिर भी मालूम यही पड़ता है कि वाणी मेरी है, मैं बोल रहा हूँ। यह तो देने वाले की शान है कि अपनी मालूम होती है। जैसे, अभी लड़कियाँ गा रहीं थीं, "देने वाले ने दिया किस शान से, मेरा है यह लेने वाला कह उठा अभिमान से।" यह तो देने वाले की महानता है।

भाई, सारी दुनियाँ एक इकाई है। जैसे, उल्हासनगर एक है, फिर उसमें एक नम्बर, दो नम्बर, तीन नम्बर, चार नम्बर हैं। तो क्या वे उल्हासनगर के बाहर हैं ? जैसे, सारा हिन्दुस्तान एक है। फिर कहेंगे कि सारा संसार एक है। तो सचमुच वास्तव में सारी सृष्टि

एक ही है। यह जो हमें बाहरी भेद लगता है, यह हम लोगों ने अपने दिमाग से पैदा किया है काम चलाने के लिए, व्यवहार चलाने के लिए। देखो भाई, सन् १९४७ से पहले पाकिस्तान जैसी कोई चीज थी क्या ? नहीं थी। हिन्दुस्तान के टुकड़े हो गए। अच्छा, यह जो प्रान्तवाद है, वह इंसान की बेवकूफी है या वास्तव में प्रान्तवाद कुछ है ? इन्सान की बेवकूफी है। किसलिए ? मैं प्रान्त को अलग कर लूँगा, तो मुझे मिनिस्ट्री मिल जाएगी।

अपने सुख–भोग के लिए इस एक दुनियाँ में हम अनेक प्रकार की भिन्नताएँ पैदा कर लेते हैं, बँटवारा कर लेते हैं। वास्तव में सत्य क्या है ? संसार एक है, परमात्मा एक है और संसार को जानने वाला और परमात्मा को मानने वाला इंसान भी एक है। अब सोचो, तुम कितने बड़े हुए ? अगर तुम इंसान हो, तो तुम कितने बड़े हुए ? सारे संसार को तुम जानते हो और परमात्मा को तुम ही मानते हो। अच्छा, यह तो बताओ, संसार तुमको जानता है क्या ? नहीं जानता। अच्छा, क्या परमात्मा ने यह ऐलान किया है कि तुम अलग हो ? नहीं किया। तो इंसान सच पूछो तो एक ही है। यह जरा ऊँची फिलोसोफी हो गई, असली वेदान्त आ गया।

'मैं' एक है, 'यह' एक है और 'वह' एक है। क्या राय है ? 'मैं' एक है, 'यह' एक है और 'वह' एक है। अब यह जो एक को तीन प्रकार से सोचा, तो 'वह' जो एक है, वह स्वतन्त्र है और 'मैं' और 'यह' जो हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं। वह जो परमात्मा है, वह तो स्वतन्त्र है, उदार है, प्रेम का भण्डार है। तो 'वह' को जो कहा, उसको परमात्मा कह दिया। 'मैं' को आत्मा कह दिया और 'यह' को जगत् कह दिया। तीन नाम रखे। लेकिन उस परमात्मा के बिना 'मैं' का और जगत् का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। तो परमात्मा में ही 'मैं' और 'यह'। यानी 'मैं' परमात्मा में और 'मैं' में जगत् है। यह बड़ी ऊँची फिलोसोफी। यह संसार जो है वह 'मैं' के भीतर है। और 'मैं' जो है, वह परमात्मा के भीतर है।

परमात्मा एक है। जैसे तुम कहते हो 'मैं' हूँ। तो 'मैं' एक है और 'मैं' दुनियाँ को जानता है और परमात्मा को मानता है। तो 'मैं' 'दुनियाँ' और परमात्मा, यह तीनों अलग–अलग करके देखे हैं क्या तुमने ? यानी कि जब तुम दुनियाँ को देखते हो, तो अपने से अपने को दुनियाँ से अलग करके देखते हो क्या ? नहीं देखते। तो तुम अपने में ही दुनियाँ को देखते हो। ऐसे ही परमात्मा में ही तुम अपने को देखते हो। दुनियाँ में भी तुम अपने को देखते हो और परमात्मा में भी तुम अपने को देखते हो। तो दुनियाँ बदलती हुई दीखती है, मिटती हुई दीखती है। और परमात्मा अविनाशी है, अपरिवर्तनशील है, मिटने वाला नहीं है, बदलने वाला नहीं है। जो मिटने वाला नहीं होता, वास्तव में उसी की सत्ता होती है।

इसका मतलब क्या हुआ ? परमात्मा में ही 'मैं' और 'यह' भासित होता है, प्रतीत होता है। जैसे, सीप में चाँदी प्रतीत होती है, जैसे, रस्सी में साँप प्रतीत होता है। लेकिन साँप की रस्सी से कोई अलग सत्ता नहीं होती, सीप से चाँदी की अलग कोई सत्ता नहीं होती। ऐसे ही परमात्मा में ही 'मैं' और 'यह' का भास होता है। अगर 'मैं' बुराई–रहित हो जाय, अचाह हो जाय, तो शान्ति और स्वाधीनता पाता है। जब 'मैं' शान्ति और स्वाधीनता पाता है, तो परमात्मा से किसी प्रकार की दूरी नहीं रहती, भेद नहीं रहता, भिन्नता नहीं रहती। तो 'मैं' की सच्ची एकता परमात्मा के साथ होती है। 'मैं' की समीपता परमात्मा के साथ होती है। 'मैं' की परमात्मा के साथ अभिन्नता होती है। और किसी के साथ एकता, समीपता और अभिन्नता नहीं होती।

इसी परमात्मा की समीपता को योग कहते हैं। इसी परमात्मा की एकता को बोध कहते हैं और उसी परमात्मा के प्रेम को अभिन्नता कहते हैं। तो हमारी–आपकी सबकी जो जातीय एकता है, जो नित्य सम्बन्ध है, आत्मीय सम्बन्ध है, वह परमात्मा के साथ है। और जो काल्पनिक सम्बन्ध है, जो माना हुआ सम्बन्ध है, वह जगत् के साथ है।

जिसके साथ हमारा काल्पनिक सम्बन्ध है, उसकी सेवा करनी चाहिए सब प्रकार की बुराई से रहित हो कर। और जिसके साथ हमारी वास्तविक एकता है, उससे हमें प्रेम करना चाहिए सब प्रकार की कामनाओं और ममताओं को तोड़ कर।

बुराई–रहित हो कर संसार की सेवा करें और ममता, कामना को तोड़ कर परमात्मा से प्रेम करें। संसार की सेवा और परमात्मा से प्रेम, यह क्या है ? यह हमारा–आपका स्वरूप है, यह हमारा–आपका अस्तित्व है। हम संसार के सेवक और परमात्मा के प्रेमी होकर रहें।

अब देखिये, सेवक जो होता है, उसमें सेवा की सत्ता होती है और प्रेमी जो होता है, उसमें प्रेम की सत्ता होती है। तो प्रेमी और प्रेम, सेवा और सेवक, यह एक ही चीज है, अलग–अलग नहीं हैं। जब प्रेमी संसार के रूप में प्रभु को देखता है, तो सेवा करता है। और जब प्रेमी प्रभु के रूप में प्रभु को देखता है, तो प्रेमी होता है। लेकिन प्रेमी होने के लिए, सेवक होने के लिए हमें इस सत्य को स्वीकार करना पड़ेगा कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। जब तक मानव इस सत्य को स्वीकार नहीं करता, तब तक प्रभु का प्रेमी और संसार का सेवक हो ही नहीं सकता।

जो संसार का सेवक नहीं है, उसको संसार–पसन्द करता है क्या ? बोलो। नहीं। और जो प्रभु का प्रेमी नहीं है, उसे प्रभु पसन्द करते हैं क्या ? नहीं। तो प्रभु तब पसन्द करेंगे, जब हम प्रेमी हो जाएँ। संसार पसन्द करेगा तब, जब हम सेवक हो जाएँ। सेवक हम कब होंगे ? जब यह अनुभव करें कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। प्रेमी हम कब होंगे ? जब हम यह स्वीकार करें कि प्रभु अपने हैं।

इससे क्या सिद्ध हुआ ? अगर मनुष्य ज्ञानपूर्वक यह अनुभव करे कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। और गुरु वाक्य के द्वारा सद्गुरु वाक्य के द्वारा आस्था–श्रद्धा–विश्वास पूर्वक यह स्वीकार करे कि प्रभु अपने हैं। तब वह संसार के लिए सेवक और

परमात्मा के लिए प्रेमी हो सकता है। आज मैंने जीवन की यह सारी फिलोसोफी आपके सामने रख दी। 'यह', 'वह', 'मैं' एक ही हैं, अलग–अलग नहीं हैं। यानी 'वह' ही 'यह' है, 'वह' ही 'मैं' है। संसार उसी का स्वरूप है।।ॐ।।

३९ (अ)

प्रवचन :

परम भागवत श्रद्धेय श्रीकिशोरी जी, भगवतपरायण स्वधर्मनिष्ठ सती माँ एवं उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन !

आज आपके इस बार के समारोह का आखिरी दिवस है। प्रातःकाल की बैठक भी आखिरी बैठक थी। हम लोग जीवन सम्बन्धी चर्चा करते रहे, सुनते रहे, समझते रहे। अब प्रश्न यह है कि सचमुच हमारी क्या माँग है और उसके लिए हमें क्या करना है ? इन दो बातों पर ही इस सारे समारोह का सार निर्भर है। ऐसी चीज जो सभी को मिल सके और सभी को पसन्द आए, जिसमें कभी किसी को अरुचि न हो, देने से घटे नहीं, पाने से तृप्ति हो नहीं, ऐसी चीज एकमात्र प्रेमतत्त्व है। प्रेमतत्त्व से कभी किसी को अरुचि नहीं होती। प्रेम देने से कभी घटता नहीं। यही नहीं, प्रेम क्षति, पूर्ति और निवृत्ति से रहित है। आप कहेंगे, कैसे ? तो निवृत्ति काम की होती है, पूर्ति जिज्ञासा की होती है और प्राप्ति प्रेम की होती है।

काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति–यह मानवमात्र का अपना लक्ष्य है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि काम की निवृत्ति कैसे होती है ? तो कहना पड़ता है कि एकमात्र सत्संग से होती है। सत्संग का अर्थ क्या है ? जो असत् है उसे

अस्वीकार करना और जो सत् है उसको स्वीकार करना। असत् क्या है, इस सम्बन्ध में मानव–सेवा–संघ का दृष्टिकोण क्या है ? तो वह यह नहीं है कि आप संसार को असत् मानिये। ऐसा नहीं है। यह भी नहीं है कि संसार को सत् मानिए। तो क्या है ? हमारा और संसार का जो सम्बन्ध है, वह असत् है। यह जो असत् है यह प्राकृतिक नहीं है, यह ईश्वरीय नहीं है। यह हमारी अपनी भूल से उत्पन्न हुआ है। हमने मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य को अपना मान लिया है और अपने लिए मान लिया है। अथवा आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक सर्व समर्थ प्रभु को स्वीकार नहीं किया है। यह भी असत् है। यह जानते हुए कि दूसरे लोग हमारी सहायता करें, सहयोग करें; हमने दूसरों की सहायता और सहयोग नहीं किया। यह भी असत् है।

संसार कैसा है ? इस सम्बन्ध में एक निर्णय नहीं है, अनेक मत हैं। परमात्मा कैसा है ? इसका विवेचन अनेक प्रकार से है। तो उस चर्चा में हम नहीं जाते। हमें केवल यह निवेदन करना है कि संसार से सम्बन्ध जोड़ना और परमात्मा से सम्बन्ध न जोड़ना और दूसरों की सेवा–सहायता न करना, यह जरूर असत् है। इसी असत् को हमें अपने जीवन में से निकाल देना है। संसार जैसा है वैसा ही रहेगा, परमात्मा जैसा है वैसा ही रहेगा और मिला हुआ बल सदैव किसी के पास न रहा, न रहेगा। उससे अपना कोई मतलब नहीं। अपना प्रयोजन केवल इतनी बात से है कि क्या आज हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि बल का दुरुपयोग नहीं करेंगे, संसार से सम्बन्ध नहीं रखेंगे, परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ लेंगे ? हाँ, एक विचारणीय बात यह है कि संसार से सम्बन्ध न रखना और बात और सेवा न करना बिलकुल गलत बात है। सम्बन्ध तोड़ दो, लेकिन सेवा मत छोड़ दो। आखिर बल का करोगे क्या ? अगर तुम सेवा नहीं करोगे, तो शरीर का उपयोग क्या होगा ? योग्यता का उपयोग क्या होगा ? वस्तु का उपयोग क्या होगा ? मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का उपयोग यह है कि किसी न किसी की सेवा करें। किसकी सेवा करें ? जो निकटवर्ती हैं, जिनके साथ रहना पड़ता है,

जो हमारे साथ रहते हैं, हम जिनके साथ रहते हैं, उनकी सेवा करना है।

मुझे बचपन की एक भूल मालूम है। वह भूल यह है कि मैं घर वालों की तो बात न सुनूँ और गाँव वालों के साथ बड़ा अच्छा व्यवहार करूँ। क्यों ? यह जो घर वाले होते हैं, वे आसानी से मान नहीं दिया करते। वे तो अपना अधिकार मानते हैं। इनके मन में यह कभी नहीं आती कि हमारे सम्बन्धियों ने हमारे साथ उदारता की है। वे तो यह सोचते हैं कि वह तो उन्हें करना ही चाहिए था। न करने पर बिगड़ते हैं। यह नियम है। तो मैं मान पाने के लिए, अपनी प्रशंसा सुनने के लिए दूसरों के साथ अच्छा व्यवहार करता और घर वालों के साथ कटु व्यवहार करता। यह जब मुझे पता चला कि घर के लोग तो मुझे नापसन्द करते हैं, बाहर के क्यों पसन्द करते हैं ? तब मुझे बहुत सोचने पर यह पता चला कि सचमुच घर वालों की मैंने सेवा नहीं की, आदर नहीं दिया, उतना प्यार नहीं दिया, उनकी ममता नहीं छोड़ी, उन पर से अपना अधिकार नहीं हटाया। बाहर वालों का काम किया केवल मान पाने के लिए। बहुत दिनों तक यह कमजोरी मेरे जीवन में रही। यहाँ तक कि राजनीतिक क्षेत्र में भी जब मैंने भाग लिया, तो यही सोच कर लिया–

शहीदों की मजारों पर जुड़ेंगे हर बरस मेले,
वतन पर मरने वालों का यही नामो निशाँ होगा।

तो महानुभाव ! यह बहुत गम्भीर बात है, बहुत विचारणीय बात है कि जो निकटवर्ती प्रिय जनों की निष्कामभाव से, अपना अधिकार छोड़ कर सेवा नहीं करता, वह सचमुच सेवा नहीं कर सकता। यह पारिवारिक जीवन क्या है ? यह सेवा की ट्रेनिंग है। यह बन्धन नहीं है, यह बुरा नहीं है। लेकिन हम बन्धन कब बना लेते हैं ? जब स्वयं तो सेवा करते नहीं और दूसरों पर अधिकार मान लेते हैं। आजकल एक रवैया पड़ गया है। बड़े–बड़े पद बने हैं महाराज ! बड़े गीत गाये लोगों ने। माता–पिता, बन्धु, दारा, यह सब हैं सुख

के भोगी। मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि किसी स्त्री ने अपने पति को सुख दिया, तो क्या उसके बदले में पति से स्त्री को कुछ सुख नहीं मिला ? क्या राय है ? यह सुख का आदान–प्रदान है या केवल सुख का भोग ही है ? सुख का आदान–प्रदान है। लेकिन नहीं, थोड़ा सा वैराग्य आया, तो सबसे पहले कहा कि घर वाले बड़े नालायक। आज के साधकों की यह दशा है।

मैं आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि घर वाले लायक हैं या नालायक, यह तो वे जानें जो हैं। लेकिन अपना काम क्या है ? अपना काम तो यह था कि जिनके साथ हम रहते हैं, पहले उनकी सेवा करें और भीतर से उनसे सम्बन्ध तोड़ दें। यह बड़ा कठिन पड़ता है लोगों को। सम्बन्ध तोड़ कर सेवा करना बड़ा कठिन पड़ता है, समाज में सम्मान बिना लिए सेवा करना बड़ा कठिन पड़ता है, पद को स्वीकार किये बिना सेवा करना बड़ा कठिन पड़ता है। किसको कठिन पड़ता है ? जो सचमुच स्वाधीन नहीं होना चाहते, जो प्रेमी नहीं होना चाहते और जो दुःख की निवृत्ति नहीं करना चाहते, उनको कठिन पड़ता है।

नहीं तो महानुभाव ! हम जिनके साथ रहते हैं, उनके साथ जो हम कर सकते हैं, उसके करने से भगवान् नाराज हो जाएगा और न करने से खुश हो जाएगा, तो भगवान् हमको ऐसा साथी क्यों देता ? ऐसी परिस्थिति क्यों देता ? तो मेरा निवेदन यह है कि जो कुछ मिला है, वह सब ईश्वरवादी की दृष्टि से प्रभु का दिया हुआ है। जब प्रभु का दिया हुआ है, तो परिवार की सेवा भी प्रभु की सेवा है, देश–सेवा भी प्रभु की सेवा है। यह नहीं कि एकान्त में बैठ कर चिन्तन करते रहें, यह तो भगवत् सेवा है और कमरे में झाड़ू लगाना भगवत् सेवा नहीं है। ऐसा मैं नहीं मानता। जो मानते हैं, ठीक है। क्योंकि व्याख्यान में तो वक्ता का ही परिचय होता है।

तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि अगर आप प्रेमियों के जीवन को देखेंगे, तो ऐसा एक भी प्रेमी नहीं मिलेगा,

जिसने प्रियजनों की सेवा न की हो। सभी ने की है। हाँ, उनसे सुख की आशा नहीं की, उनसे सम्बन्ध नहीं रखा। यह तो ठीक बात है। लेकिन प्रियजनों की सेवा सभी ने की। क्यों ? इसमें एक बड़ा दार्शनिक तथ्य है। वह दार्शनिक तथ्य यह है कि सम्बन्धियों की सेवा अगर आप नहीं करेंगे, तो पूर्वकृत–कर्म का जो राग है वह निवृत्त नहीं होगा। प्रियजनों की सेवा करने से उनका राग निवृत्त हो जाता है।

एक बार परम भागवत् देवकीजी ने हमसे कहा कि गर्मी की छुट्टियों में मैं प्रति वर्ष बाबू जी के पास जाया करती थी। अब कभी–कभी बाबू जी का ख्याल आता है। यद्यपि मैं सत्संग के लिए आज्ञा ले कर आई हूँ, फिर भी मुझे ख्याल आता है। मैंने कहा कि ख्याल आता है, तो एक प्रीति भरा पत्र ही उन्हें लिख दिया करो, कुछ वस्तु ही भेज दिया करो। तो छुटकारा पाने का उपाय क्या है ? जिनसे सम्बन्ध जोड़ा था, उनकी सेवा कर दो।

एक महानुभाव हमारे पास आये। वे कहने लगे कि मेरे मन में बार–बार लड़के का ख्याल आता है। मैंने कहा कि क्या लड़का तुम्हारे साथ नहीं है ? तो उन्होंने बड़े दुखी हो कर कहा कि उसकी माँ का देहान्त हो गया। बच्चा ननसाल में रहता है। उसकी नानी पालन–पोषण करती है। मैंने कहा कि जिस दिन ख्याल आया करे, पचास रु० का मनीआर्डर कर दिया करो। मैंने यह नहीं कहा कि लड़के की ममता छोड़ दो। मैं जानता था कि वे ममता छोड़ सकते ही नहीं। ऊपर से भले ही दिमाग में भर लें। जिससे सुख लिया है, उसकी ममता छूटना आसान है क्या ? आसान नहीं है। जितना सुख लिया है, उसका कई गुना देकर विचारपूर्वक क्षमा माँग लोगे, तब सम्बन्ध छूटता है। मजाक नहीं है। पर छूट जरूर जाता है। इसमें दो मत नहीं हैं। तो वे बोले महाराज ! यह तो बड़ा कठिन है। हमने कहा कि तुम्हारी तो चलती क्या है, तुम्हारे बाप भी ख्याल नहीं मिटा सकते। अरे, अपना मानोगे और सेवा नहीं करोगे, तो क्या ख्याल मिट जाएगा ?

गुरु का ख्याल किसको ज्यादा आता है ? जो गुरु की बात नहीं मानता। और किसको ज्यादा आता है ? जो गुरु स्वयं चेला में आसक्त होता है। माफ कीजियेगा। मैं किसी व्यक्ति से नहीं कहता हूँ। कोई गुरु महाराज नाराज न हो जाएँ। यह जो चेलों को अपने–अपने गुरुओं का ख्याल आता है,यह उन्हीं चेलों को आता है, जो गुरु की बात नहीं मानते और उन्हीं गुरुओं को आता है, जो स्वयं चेलों में आसक्त हैं। अगर गुरु आसक्त न हो तो चेलों में आसक्ति आ जाए, यह त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। गुरु–शिष्य का सम्बन्ध होता है अनासक्ति के लिए। यह नहीं कि दस प्रकार की आसक्तियाँ तो थीं हीं, ग्यारहवीं प्रकार की और नई पैदा कर ली।

मैं आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि संसार का ख्याल कब छूटता है ? जब संसार की दी हुई वस्तु संसार को दे देते हैं। अथवा संसार का ख्याल किसका छूटता है ? जो जीवन में मृत्यु का अनुभव कर लेता है। सोऽहं शिवोऽहं का चिन्तन तो बहुत करते हैं, उससे काम नहीं चलता। स्पष्टरूप से जो देह की ममता को तोड़ देता है, देह के रहते हुए भी जिसको संसार का ख्याल नहीं आता अथवा किसको संसार का ख्याल नहीं आता ? जो बिना देखे भगवान् पर अपने को न्यौछावर कर देता है।

तीन प्रकार के आदमियों का संसार का ख्याल छूट जाता है–जिसने आस्था, श्रद्धा विश्वासपूर्वक प्रभु को अपना मान लिया, अपने को प्रभु का मान लिया, उसके जीवन में संसार का ख्याल नहीं रहता। जिसने विचार पूर्वक तीनों शरीरों से अपने को असंग कर लिया उसको संसार का ख्याल नहीं आता। अथवा जिसने अपनी पूरी शक्ति लगा कर प्रियजनों की सेवा कर दी, उसको भी संसार का ख्याल नहीं आता। एक का नाम–कर्म–योग है, एक का नाम ज्ञान–योग है और एक का नाम भक्ति–योग है।

यह तो उपसंहार हो गया छः दिनों की चर्चा का। अब आप देखिए, प्रेमी सत्‌युग में भी हुए हैं, त्रेता में भी हुए हैं, द्वापर में भी हुए

हैं, और कलियुग में भी हुए हैं। हर युग में प्रेमी हुए हैं। यह जो प्रेमी कहा जाता है, यह भगवत् प्रेमी शब्द है। भगवान् के प्रेमी सब युग में हुए हैं। आप देखिए, सत्युग में श्रीप्रह्लाद जी भक्त हुए। कैसे होगये ? अभी लाल कन्हैया गीत गा रहे थे। वे एक लाइन में भगवान् की महिमा गा रहे थे, दूसरी लाइन में अपनी निर्बलता बता रहे थे। आप जानते हैं कि जिसे अपनी निर्बलता का ठीक–ठीक ज्ञान हो जाता है, जिसे भगवान् की महिमा ठीक पसन्द आ जाती है, उसका भगवान् से सम्बन्ध हो जाता है। बढ़िया डाक्टर हो और रोगी हो, तो सम्बन्ध जुड़ेगा कि नहीं ? रोगी का डाक्टर से सम्बन्ध जोड़ना स्वाभाविक हो जाता है या अस्वाभाविक ? स्वाभाविक हो जाता है। ऐसे ही पतित और पतितपावन का सम्बन्ध स्वाभाविक हो जाता है। ऐसे ही चाकर और ठाकुर का सम्बन्ध स्वाभाविक हो जाता है।

कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि जो सचमुच अपनी निर्बलता से पीड़ित होता है और प्रभु की महिमा स्वीकार करता है, उसका नाम भक्त होता है। अब आप देखिये, प्रह्लाद जी के जीवन में क्या है ? उन्होंने एक भक्त को देखा कि वह भगवान् के चिन्तन में डूबा हुआ है, भगवान् से व्यथित होकर प्रार्थना कर रहा है। उन्होंने पूछा, तू क्या कर रही है ? तो वह बोली, कर क्या रही हूँ, मुझसे बड़ा अपराध हो गया है कि मेरी असावधानी से बिल्ली के बच्चे अवा में बन्द हो गये हैं, आग लग गई। मैं उस सर्व समर्थ प्रभु से प्रार्थना कर रही हूँ कि हे प्रभु, बच्चों की मृत्यु न हो ! उससे पहले प्रह्लाद ने प्रभु का नाम कभी नहीं सुना था। उसने अपने बाप की ही महिमा सुनी थी, अपने बाप का ही बोलबाला सुना था, क्योंकि हिरण्यकश्यप ने अपने अहं की महिमा के लिए ही तप किया था।

जो अपने सुख के लिए तप करता है, जो अपने सुख के लिए जप करता है, उसकी गणना–माफ कीजियेगा–हिरण्यकश्यप की सूची में की जाती है। मैं किसी व्यक्ति से नहीं कह रहा हूँ। अपने

सुख के लिए किया गया भजन, अपने सुख के लिए किया गया तप, अपने सुख के लिए किया हुआ दान, यह राक्षसी स्वभाव है। यह मानवी स्वभाव नहीं है।

प्रह्लाद नन्हा–सा भोलाभाला बालक था। भगवान् की लीला है कि ईश्वर के न मानने वालों के यहाँ ही ईश्वर–भक्त पैदा होता है। यह भगवान् की लीला है, यह उनका विनोद है, यह उनकी कृपालुता है। बिजनौर में राम अवतार शर्मा की बात है। उन्होंने दो हजार पेज की एक किताब लिखी कि पुनर्जन्म नहीं होता। उन्हीं के घर में लड़का पैदा हो गया, जिसने पहले जन्म की बात बताई। यह भगवान् की लीला है। क्या कहा जाए ?

तो प्रह्लाद ने कहा कि देखो माँ, तेरा जब अवा खुले, तो मुझे बुला लेना। मैं देखूँगा कि क्या भगवान् रक्षा करता है ? उसने प्रह्लाद को बुला लिया। बच्चे जिन्दा निकले। प्रह्लाद के मन में यह विश्वास हो गया। माफ कीजिएगा, वह घर छोड़ कर नहीं भागा, बढ़िया गुरु के पास नहीं गया। उसने सत्य का आदर किया। प्रह्लाद के मन में यह विश्वास हो गया कि कोई सर्व–समर्थ रक्षक है। यही प्रह्लाद की दीक्षा थी। क्या राय है किशोरी जी ? और कोई दीक्षा ली क्या उसने ? किसी महात्मा के पास गया क्या ? शरणानन्द का चेला बना क्या ? किसी महात्मा से आकर चिपका क्या ? उसने सत्य स्वीकार कर लिया एक बार। अब मजबूर है प्रह्लाद उनकी स्मृति करने को। जप नहीं किया उसने। याद आती थी बार–बार। किसकी ? जिसकी महिमा स्वीकार की थी उसकी। उसकी याद आती थी।

यह नियम है कि जिसकी याद आती है, उसी की चर्चा होने लगती है, उसी का चिन्तन होने लगता है। अब प्रह्लाद जी के जीवन में स्वभाव से भगवान् की चर्चा होने लगी, चिन्तन होने लगा। यह खबर हिरण्यकश्यप को मिली। उसने कहा कि यह मेरे यहाँ कौन पैदा हो गया है, जो मेरी महिमा को छोड़कर किसी और की

महिमा स्वीकार करता है ? हिरण्यकश्यप और कोई नहीं है, अपना अहम् ही है। आजकल के लोग कहते हैं–मैं इतना योग्य आदमी हूँ, मैं इतना कमाता हूँ। अरे, कमाते हो तो क्या करते हो भाई, किस पर अहसान करते हो ?

मैं निवेदन करना चाहता हूँ कि जो दिन–रात अपने अहम् के ही महत्त्व को बढ़ाता रहता है, दुनियाँ उसका मुँह देखना पसन्द नहीं करती ईमानदारी से। माफ कीजिए। महाराज, मजबूरी में भले ही कह दें कि तुम बड़े अच्छे हो। तो हिरण्यकश्यप तो था अहं का पुजारी और प्रह्लाद उस बिना देखे हुए सर्व समर्थ प्रभु का पुजारी। अब विचार–भेद हो गया। प्रह्लाद को अनेक प्रकार से कष्ट देना आरम्भ कर दिया। लेकिन एक बात बताओ, प्रह्लाद ने भी कभी किसी को कष्ट दिया क्या ? कभी उसने शिकायत की क्या ? क्या प्रह्लाद ने कहा कि हम तो भक्त हो गये और हमारा बाप नालायक है ?

आज जरा–सा भगवान् में विश्वास हुआ, तो सबसे पहले बाप नालायक, माँ नालायक, खसम नालायक। यह क्या तरीका है ? अरे बाबा, जो भगवान् का हो जाता है, उसे कोई गैर दीखता है क्या ? उसे कोई गैर मालूम होता है क्या ? वह किसी को बुरा समझता है क्या ? वह किसी की निन्दा करता है क्या ? कभी नहीं करता।

लेकिन एक बड़ी वीरता की बात है, बड़ी बहादुरी की बात है कि वह प्रेमी सम्बन्ध किसी से भी नहीं रखता, बिल्कुल निर्लेप, जीते जी मरा हुआ। क्यों ? वह सम्बन्ध सिवाय प्रभु के और किसी से नहीं रखता। वह महिमा सिवाय प्रभु की और किसी की नहीं मानता, लेकिन प्रभु के नाते सबके प्रति हितकामना रखता है।

तो महाराज, अनेक प्रकार के कष्ट देने के बाद भी प्रह्लाद भयभीत नहीं हुआ। उसकी आस्था नहीं बदली, उसका चिन्तन नहीं बदला, उसकी प्रियता नहीं बदली। अन्त में इतना क्रोध आ गया अहम् देवता हिरण्यकश्यप को कि वह स्वयं मारने के लिए चला। उसने प्रह्लाद से कहा, "बता तेरा राम कहाँ है ?" नन्हा–सा बालक

कहता है–"वह मुझ में है, तुम में है, खड्ग में है, खम्ब में है।" निश्चिन्त होकर निर्भय हो कर सहज भाव से प्रह्लाद ने कह दिया कि खम्ब में है। तो नृसिंह भगवान् को खम्ब में से प्रकट होना पड़ा।

यह मत समझिए कि भगवान् दुष्टों के नहीं होते। वे सबके होते हैं। सबके न हों, तो वह भगवान् ही नहीं है। हिरण्यकश्यप को तप काल में वे यह वर दे चुके थे। हिरण्यकश्यप ने क्या–क्या माँगा था ? दिन में न मरूँ, रात में न मरूँ, अस्त्र से न मरूँ, जमीन पर न मरूँ, आसमान में न मरूँ, मनुष्य से न मरूँ, पशु से न मरूँ। जितना सोच सकता था सब उसने माँगा। अब वह मरे फिर कैसे ? तो भगवान् ने कहा कि यह तो सामर्थ्य मुझ में ही है कि आधा बन जाऊँ पशु और आधा बन जाऊँ मनुष्य। नृसिंह का स्वरूप ऐसा ही है न ? आधे शेर की तरह हैं और आधे मनुष्य की तरह। अब भगवान् ने कहा कि भैया, मैं तो सब वर इसको दे चुका। तो चलो, देहरी पर बैठ कर घुटने के ऊपर रख कर नाखून से पेट फाड़ दूँ। उसने यह वर नहीं माँगा था कि मैं नाखून से न मरूँ। माँगा था क्या ? कोई कामनायुक्त आदमी कितना ही चतुर हो, कहीं–न–कहीं धोखा खा ही जाता है। हिरण्यकश्यप भी धोखा खा गया।

सुनते हैं कि नृसिंह भगवान् का इतना तेजस्वी विशाल रूप था कि देवता काँपने लगे। कोई स्तुति करने को राजी न हो। लेकिन प्रह्लाद बिलकुल अभय था। देखिए प्रभु की महिमा ! जितनी कही जाए, कम ही होती है। तो नृसिंह भगवान् ने क्षमा माँगी प्रह्लाद से और कहा–"प्रिय वत्स ! हिरण्यकश्यप ने तुझे बड़ा दुःख दिया। मुझे देर हो गई।" अब देखिए, जो अनन्त हैं, जो अपार हैं, जो समर्थ हैं, वे आज प्रह्लाद से क्षमा माँग रहे हैं।

अन्त में बड़े दुलार से कहा कि, "भैया प्रह्लाद ! तू कुछ माँग ले।" प्रह्लाद ने कहा कि मुझे कुछ नहीं चाहिए, कुछ नहीं चाहिए। फिर कहा कि कुछ माँग ले। फिर भी उसने कहा कि कुछ नहीं चाहिए। फिर भगवान् ने कहा कि कुछ माँग ले। अब प्रह्लाद बिगड़

गया। माफ कीजिए, मैं किसी जातीय पक्ष की बात नहीं कहता। तो प्रह्लाद कहने लगा कि मैं कोई बनिया हूँ क्या ? फिर भी भगवान् ने कहा कि भैया प्रह्लाद ! कुछ माँग ले। तो उसने कहा कि मैं यह चाहता हूँ कि मैं कुछ न चाहूँ।

यह एक बड़ा दार्शनिक तथ्य है। अपने द्वारा गुणों का सम्पादन करना और प्रभु की करुणा से गुणों को प्राप्त करना, इनमें बड़ा फर्क होता है। यह बात प्रह्लाद नहीं जानता था कि मुझमें कामना है। तो उसने कहा कि आप देना ही चाहते हैं तो यह चाहता हूँ कि कुछ न चाहूँ। अब भगवान् ने कह दिया–"एवम्अस्तु" जब भगवान् ने एवम्अस्तु कहा, तब प्रह्लाद को ज्ञान हुआ। अब लगा भगवान् पर केस चलाने। महाराज, भक्तों ने बड़े–बड़े केस चलाये हैं। हाँ, तो प्रह्लाद ने कहा कि बताओ महाराज ! भगवान् बोले, "हाँ भैया प्रह्लाद !" प्रह्लाद ने कहा कि आपका बैरी मेरा बाप था कि उसका अभिमान ? भगवान् को कहना पड़ा कि उसका अभिमान था। प्रह्लाद ने कहा कि आपने बाप को मारा कि उसके अभिमान को ? अब देखिए, बाप की सद्‌गति की कामना प्रह्लाद में निकल आई।

मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि जितने भक्त हुए हैं, वे सब हुए हैं किसी भक्त की वाणी में विश्वास करने से। भक्त के शरीर से चिपकने से नहीं हुए। भक्तों ने दर्शन करने के लिए अपने आचार्य के चित्र को रखा, यह अलग बात। लेकिन एक बात तो बताओ, किस भक्त ने कहा है कि तुम मेरे शरीर की पूजा करना और भगवान् के विग्रह की मत करना ? क्या किसी ने कहा है आज तक ? किसी भक्त की वाणी है क्या ? नहीं है। लेकिन भक्तों ने क्या किया ? उनके मन में केवल वह बात रही कि इनके द्वारा हमें प्रभु का विश्वास प्राप्त हुआ, इसलिए आचार्य पूजन की बात कही गई है। लेकिन आचार्य ने क्या कहा ? मुझ में विश्वास करो, यह कहा कि प्रभु में विश्वास करो, यह कहा ? प्रभु–विश्वास। तो किसी भक्त के पास प्रभु–विश्वास से भिन्न कुछ और है क्या ? नहीं है।

इसलिए महानुभाव ! प्रभु में विश्वास करो। यदि विश्वास करना है, तो प्रभु में विश्वास करो। क्यों ? विश्वास करने से सम्बन्ध जुड़ जाता है। हमारे जितने भी सम्बन्ध हैं, वे दो ही तरह से जुड़ते हैं, या तो अपनी जरूरत से जुड़ते हैं या विश्वास से जुड़ते हैं। तो प्रभु के साथ सम्बन्ध जुड़ता है प्रभु–विश्वास से। मैं यहाँ एक बड़ी सूक्ष्म बात निवेदन करना चाहता हूँ कि प्रभु–विश्वास किसी और जरूरत से रखोगे, तो वह साध्य न रह कर साधन बन जाएगा। जब परमात्मा साध्य न रह कर साधन बन जाएगा, तो परमात्मा दूर हो जायेगा। इसलिए यहाँ सही परामर्श की जरूरत होती है, इस सलाह की जरूरत होती है कि प्रभु में विश्वास करो प्रभु से सम्बन्ध जोड़ने के लिए, किसी और संकल्प के लिए मत करो।

एक बहन की बात है कि उनके पति मुन्सिफ थे। वे बीमार हुए। किसी ने कहा कि भगवान् की पूजा करो। भगवान् की पूजा शुरू हो गई, पति अच्छे हो गये। दोबारा फिर बीमार हुए और फिर पूजा की। पति अच्छे नहीं हुए, मर गये। भगवान् को उठाकर उन्होंने फेंक दिया, क्योंकि अब वे बेकार साबित हो गये।

तो जो परमात्मा से कुछ भी चाहता है, वह परमात्मा को कभी पसन्द नहीं करता। परमात्मा को वही पसन्द करता है, जो परमात्मा से कुछ नहीं चाहता। प्रभु से जो सम्बन्ध जोड़ा जायेगा, वह प्रभु की मधुर स्मृति और प्रियता जगाने के लिए, न कि मुक्ति के लिए। मुक्ति तो भगवान् सबको दे देते हैं बड़ी सुगमता से। कैसे ? आपको जो ज्ञान मिला है, उसी के आदर से मुक्ति प्राप्त होती है। मुक्ति और किसी प्रकार नहीं मिलती। आपने ज्ञानपूर्वक ममता, कामना, तादात्म्य तोड़ दिया, तो आप मुक्त हो गये। भोग जो है वह कर्म सापेक्ष है। आपको कर्म–सामग्री मिली है, उससे आपको भोग मिल जायेगा।

लेकिन प्रभु–प्रेम एकमात्र प्रभु–विश्वास से ही होता है। और किसी प्रकार से प्रभु–प्रेम की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए प्रभु भक्तों ने हमेशा प्रभु विश्वास की बात कही है, प्रभु की आत्मीयता की बात

कही है। वे कहते हैं, अरे भाई, क्यों अधीर होते हो ? क्यों बेचैन होते हो ? तुम तो प्रभु की जाति के हो, तुम्हारा तो प्रभु से नित्यसम्बन्ध है, प्रभु तो तुम्हारा अपना है।

भक्तों ने मीरा से कहा कि प्रभु तुम्हारे पति हैं। भक्तों ने ईसा से कहा कि प्रभु तुम्हारे बाप हैं। भक्तों ने मोहम्मद से कहा कि प्रभु तुम्हारे दोस्त हैं। मैया यशोदा से कहा कि प्रभु तेरा बेटा है। किसी–न–किसी प्रकार से प्रभु से आत्मीयता स्वीकार करने की बात समस्त भक्तों ने कही, समस्त आस्तिक दर्शनों ने कही। अनेकों प्रमाण इस बात के हैं कि जो प्रभु में विश्वास कर लेता है, जो प्रभु से सम्बन्ध जोड़ लेता है, जो प्रभु को अपना मान लेता है, जो प्रभु का होकर रहने लगता है, उसे तीन चीजें मिल जाती हैं बिना माँगे। पहले मिलती है, निश्चिन्तता। सर्व समर्थ में मैंने विश्वास कर लिया, तो अब चिन्ता की कौनसी बात है ? फिर मिलती है, निर्भयता और फिर मिलती है, प्रियता। निश्चिन्तता में शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, निर्भयता से शक्ति का सदुपयोग होता है। प्रियता से रस की अभिव्यक्ति होती है। तो हर एक भक्त के जीवन में निश्चिन्तता, निर्भयता और प्रियता रहती है।

त्रेता में देखिए। त्रेता में शबरी जी बड़ी भक्त हुईं, बड़ी ऊँची कोटि की भक्त हुईं। शबरी जी की साधना में क्या था ? जरा बताओ तो सही। उनके गुरु थे मतंग ऋषि। उन्होंने यह कहा कि देख शबरी ! तुझे राम मिलेंगे, तेरे आश्रम में राम आयेंगे। अब देखिए, इसे कहते हैं गुरु–भक्ति। शबरी जी निश्चिन्त हो गईं कि मुझे राम मिलेंगे, मुझे राम मिलेंगे। बताओ, शबरी जी की साधना और क्या थी ? वे ध्यान करती थीं, जप करती थी ? कहीं नहीं लिखा है। उनकी साधना यह थी कि जो उनका दैनिक कर्म था उसके अनुसार रास्ता साफ करना, ऋषियों के आश्रम में लकड़ियाँ डाल आना।

आजकल लोग कहते हैं कि ध्यान करो बैठकर। काम करोगे तो बाधा पड़ जायेगी भजन में। यह बिलकुल गलत बात है। बताओ,

शबरी जी ने कौन सा आसन साध कर, मुद्रा साध कर भजन किया था ? उनके गुरु ने कौनसी मन्त्र दीक्षा दी थी ? केवल आस्था दी, श्रद्धा दी, विश्वास दिया कि शबरी ! तुझे राम मिलेंगे। आप जानते हैं कि शबरी माँ है, मैया है। तो माँ के मन में भाव उठता है कि मैं राम को क्या खिलाऊँगी ! माँ तो खिलाना ही जानती है।

एक दिन लाल कन्हैया की मैया कह रही थीं कि यह कुछ खाता ही नहीं है। कितना मधुर भाव था उनके मन में ! कितनी सुन्दर वाणी थी कि यह तो कुछ खाता ही नहीं है, इसका शरीर तो अच्छा रहता ही नहीं है ! तो माँ के मन में क्या रहता है ? कुछ खिलाऊँ–पिलाऊँ तो अच्छा रहे। माँ कमाई खाना चाहती हो, सो नहीं। वह बिल्कुल कमाई खाना नहीं चाहती।

तो महाराज, शबरी मैया सोचने लगीं कि राम आयेंगे, तो मैं क्या खिलाऊँगी ? यह तो वह सोच ही नहीं सकती थी कि बाजार से मिठाई मँगाऊँगी। वह तो फल खाती थी जंगल के। वह भील जाति की थी। तो जो फल खाये और मीठा लगे, वह अपना खाना भूल जाए और राम के लिए जमा करना शुरू कर दे कि मैं राम को खिलाऊँगी, राम को खिलाऊँगी।

सती माँ के दर्शन से तो हमें यह विश्वास हो गया कि शबरी का खाना जरूर छूट गया होगा। क्योंकि वह तो राम को खिलाने के लिए फल इकट्ठा करती थी। राम का कोई समय निश्चित तो था नहीं। देखिए, भगवान् से मिलने का कोई समय निश्चित नहीं होता। इसीलिए अखण्ड प्रतीक्षा थी, दिन–रात प्रतीक्षा थी कि राम आयेंगे, राम जरूर आयेंगे। गुरु भगवान् ने कहा है, इसलिए जरूर आयेंगे। राम आयेंगे, उनके काँटे न लग जायें, इसलिए रास्ता बुहारना, राम के जो प्यारे ऋषि हैं उनके यहाँ लकड़ी डाल आना और मीठे–मीठे फल जमा करते रहना। इसके सिवाय बताओ, तीसरी चीज क्या थी उनके जीवन में ?

उन्होंने यही स्वधर्म का पालन किया। यही सती माँ ने भी

किया। मैं ठीक कहता हूँ कि यदि सती माँ के जीवन का कोई ठीक–ठीक अध्ययन करे, तो मालूम होगा कि जिस परिवार में वे रहीं, उस परिवार की सेवा की। सबको सम्मान दिया, सबको आदर दिया। किसी से कोई आशा नहीं रखी और भगवान् में विश्वास किया, भगवान् से सम्बन्ध जोड़ा। और तो कुछ किया नहीं। तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि शबरी ने भी यही किया और राम को आना ही पड़ा।

जब राम आए, तो शबरी जी तो सब सुध–बुध भूल गईं। क्यों ? जिसकी प्रतीक्षा होती है और जब वह आ जाता है, तो थोड़ी देर के लिए सुध–बुध बिसर जाती है। अब राम खुद माँगने लगे, "मैया ! फल दे दे। मैया, भूख लगी है।" आप जानते हैं, भगवान् ने स्वयं गोस्वामी जी की वाणी में यह कहा है कि मैया कौशल्या ने मेरे लिए बड़े–बड़े सुन्दर भोजन बनाए। हमारी लता जी जानती हैं कि सुनैना जी ने बड़ी–बड़ी पहुनाई की। उन्होंने यहाँ तक पहुनाई की कि मिथिलावासी तो कहते हैं कि वह पहुनाई समाप्त ही नहीं हुई। दूल्हा–दुलहिन वहाँ अब भी निमन्त्रण खा रहे हैं। ऐसा वहाँ के लोग मानते हैं। लेकिन रघुनाथ जी कहते हैं कि जो स्वाद शबरी जी के बेरों में मिला, वह कहीं नहीं मिला। क्या कारण था ? शबरी जी का प्रेम था या शबरी जी की कोई योग्यता थी ? आप विचार करें। शबरी जी का प्रेम था।

तो देखिए, त्रेता में जो भक्त हुए, वे भी प्रभु–विश्वास को लेकर ही हुए। और महाराज, द्वापर की तो क्या कहें ! द्वापर में तो जितने भक्त हुए हैं, वे तीन प्रकार के भाव को लेकर भक्त हुए हैं–वात्सल्य भाव के हुए, सख्य भाव के हुए और मधुर भाव के हुए। दास्य भाव का भक्त श्रीकृष्ण के चरित्र में नहीं है। किसी ने श्रीकृष्ण को सखा बनाया, किसी ने बेटा बनाया और किसी ने पति बनाया। लेकिन कैसे पति बनाया ? खुल्लमखुल्ला नहीं बनाया। यहाँ बड़ा भारी एक रहस्य है। गोपियों का प्रेम क्यों विशेष माना गया है ? क्योंकि वे यह मानती हैं कि वे हमारे प्राणनाथ हैं, हमारे प्राण वल्लभ हैं, हम पर

उनका पूरा अधिकार ही है। पर खुल्लमखुल्ला उन्होंने पति का सुख नहीं भोगा। परकीया भाव था उनका।

रुक्मिणी जी का स्वकीया भाव है। किशोरी जी ! नाराज मत हो जाना। रुक्मिणी जी का स्वकीया भाव है। खुल्लमखुल्ला कन्यादान लिया। वे दुलहिन बनकर आईं, पटरानी बनकर रहीं। लेकिन गोपियों का तो खुल्लमखुल्ला विवाह नहीं हुआ। सिर्फ उन्होंने पति मान लिया।

यहाँ भ्रम होगा बुद्धिमानों को। मैं आपसे निवेदन कर दूँ कि प्रेम का जो आरम्भ होता है वह शान्त के बाद दास्य भाव से प्रारम्भ होता है और मधुर भाव पर समाप्त होता है। इसका मतलब क्या है ? इसका मतलब यह कि जैसे–जैसे प्रेम बढ़ता जाता है, वैसे–वैसे संकोच मिटता जाता है और वैसे–ही–वैसे भाव बदलता जाता है। श्री हनुमान जी जाहिरा दास हैं। वैसे हनुमान जी का दूसरा नाम क्या है, मालूम है ? चारुशीला। मधुर भाव भी हनुमान जी में है। लेकिन प्रारम्भ में जाहिरा दास्य भाव है। तो जैसे–जैसे प्रेम बढ़ता जाता है, वैसे–ही–वैसे संकोच भी मिटता जाता है। जैसे–जैसे संकोच मिटता जाता है, वैसे–ही–वैसे आत्मीयता भी दृढ़ होती जाती है। मधुर भाव में दास्य भाव भी है। स्त्री दासी के समान सेवा भी करती है, मित्र के समान परामर्श भी देती है, मैया के समान खिलाती है और स्त्री होकर परम प्रेम भी प्रदान करती है। इसलिए मधुर भाव में सभी भावों का समावेश है।

द्वापर के भक्तों की तो क्या कहा जाय ? उन्होंने केवल एक बात सोची। गोपियों ने कहा कि किसी प्रकार हमारा श्रीकृष्ण से सम्बन्ध हो जाए, चाहे हमारी बदनामी क्यों न हो जाए। पर सम्बन्ध हो जाए। हम श्रीकृष्ण की हो जाएँ। इसी भाव को लेकर उन्होंने अगहन के माह में जमुना स्नान किया और कात्यायनी देवी की पूजा की।

देखिए, प्रेमी लोग जो पूजा करते हैं–यहाँ एक बड़ा गहरा रहस्य है–वह यह है कि या तो वे स्वधर्म का पालन करते हैं या

जिससे प्रेम करते हैं, उसकी पूजा नहीं करते। आप देखेंगे कि प्रेमियों ने अधिकतर भगवान् शंकर से प्रार्थना की है कि हमें श्रीकृष्ण का प्रेम प्राप्त हो जाए। उन्होंने कहीं देवी की पूजा की है, कहीं स्वधर्म का पालन किया है, परिवार और समाज की सेवा की है। तो साधन दूसरा और साध्य दूसरा। यह बड़े रहस्य की बात है। भैया, सन्त मत में किसी–किसी ने गुरु की आज्ञा का पालन किया। यह तो किया है साधन और मिला है प्रेम। गोपियों ने कहा कि किसी प्रकार हमारा सम्बन्ध श्रीकृष्ण से हो जाए। यह है छिपी हुई बात।

श्रीकृष्ण का तो यह स्वभाव ही है कि जो उन्हें अपना मानता है, उसे वे अपना मान ही लेते हैं। वे कभी इन्कार करते ही नहीं। उन्होंने देखा कि यह ब्रज गोपियाँ तो मुझको अपना बनाने के लिए, मेरी होकर रहने के लिए तपस्या कर रही हैं गोपियाँ। अब देखूँ तो सही, कैसी तपस्या कर रही हैं ? जब वे जमुना में नहा रही थीं वस्त्र सब बाहर थे, तो श्रीकृष्ण वस्त्रों को लेकर पेड़ पर चढ़ गये बन्दर की तरह। अब गोपियाँ निहोरे करती हैं,–"हे लाला ! तुम हमको तंग मत करो। हमें जाड़ा लग रहा है, हवा तेज चल रही है। हमारी लज्जा बचाओ, हमारे वस्त्र दे दो।" श्रीकृष्ण ने कहा, "आओ, ले लो"। क्यों कहते हैं ऐसा ? वे इनको सिखा रहे हैं कि देखो, तुम मुझे अपना बनाना तो चाहती हो, पर मुझसे भेद रखती हो ? मुझसे परदा रखती हो ?

सब लोग कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने बड़ी अश्लील लीला की। अजी जनाब ! अध्यात्मदृष्टि से वासनारूपी चीर हर लिया, देह का अभिमान श्रीकृष्ण ने हर लिया। क्योंकि देह अभिमान के रहते हुए भगवत् प्राप्ति नहीं होती। भगवत् चिन्तन हो सकता है, भगवत् ध्यान हो सकता है। भगवत् प्राप्ति देह अभिमान के रहते हुए कभी होती नहीं। आध्यात्मिक अर्थ यह है कि श्रीकृष्ण ने वासनारूपी चीर हर लिया।

अब वे गोपियों को धर्म उपदेश करने लगे कि तुम नंगी होकर यमुना में नहाती हो ? जब गोपियों ने अपने अंगों को अपने हाथों से

ढका, तो श्रीकृष्ण ने कहा कि ऊपर हाथ करो, तब वस्त्र देंगे। मतलब क्या ? यह देह अभिमान गलाने की बात थी। गोपियों का देह–अभिमान गल गया और श्रीकृष्ण के साथ आत्मीयता सिद्ध हो गई। उनका श्रीकृष्ण–प्रेम से जीवन भर गया। लेकिन किसी गोपी ने घर का काम छोड़ा हो, वन में गई हो, संन्यास लिया हो, किसी गुरु के पास गई हो–ऐसा तो सुनने में नहीं आता।

लेकिन उनकी दशा कैसी हो गई थी ? कोई गोपी गैया दुह रही थी। किसी ने पूछा कि क्या कर रही हो ? वह बोली, कन्हैया को दूध के झाग दूँगी।" कोई कहे कि कन्हैया को माखन दूँगी। किसी गोपी का ऐसा कोई काम होता ही नहीं, जिसका सम्बन्ध श्रीकृष्ण से न हो। उनके हर काम के साथ श्रीकृष्ण का सम्बन्ध है।

तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि ब्रज गोपियों ने श्रीकृष्ण के साथ इतनी गहरी आत्मीयता स्वीकार की कि श्रीकृष्ण–प्रेम ही उनका जीवन हो गया। श्रीकृष्ण तो बड़े नटखट हैं। उन्होंने देखा कि अब यह गोपियाँ बेमन की हो गई हैं। लेकिन इनको अभी तक मेरी समीपता का सुख पसन्द है। महाराज, भगवान् के महत्त्व को जानना, उनके रहस्य को जानना बड़ा कठिन है ! तो आप देखिए, श्रीकृष्ण मैया यशोदा से, बाबा नन्द से कहते हैं कि "बाबा ! हमने आपका दूध–मक्खन खाया। बाबा, अपनी गैयाँ सम्भाल लो। हम तो मथुरा जाएँगे, मामा कंस ने बुलाया है।"

महाराज ! यह सुनना था कि नन्द और यशोदा इतने अधीर हो गये, व्याकुल हो गये कि कहने लगे कि लाला–लाला ! यह गैयाँ, माखन, दही–दूध सब तेरे हैं, हमारा कुछ नहीं है। मैया यशोदा विलाप करती हैं और कहती हैं, "है कोई इस ब्रज में जो कन्हैया को रोक सके ? कन्हैया जा रहा है। क्या कोई ऐसा प्रेमी है, जो इसे रोक ले ?" मैया यशोदा को अपने प्रेम का भास भी नहीं। जब यह चर्चा गोपियों ने सुनी, तो वे कहने लगीं कि मैया यशोदा उन्हें नहीं जाने देंगीं। फिर भी जब श्रीकृष्ण मथुरा को जाने लगे, तो सुनते हैं

कि गोपियाँ रथ के पहिये से लिपट गईं। श्रीकृष्ण में बड़ा आकर्षण है। वे बोले, "उठो सखी, बात सुनो, हम परसों आएँगे, परसों।"

आज तक ब्रज में यह रिवाज है कि "परसों" शब्द का इस्तैमाल नहीं करते। एक जगह ब्रज यात्रा में एक वृक्ष के तने पर लिखा था–परसों की प्रिय आवन की जो कही, कब आवेगी बैरिन परसों ! तो जब गोपियों ने देखा कि श्यामसुन्दर के मन में हमसे अलग रहने की है, तो उन्होंने हठ नहीं की, आग्रह नहीं किया। वे दौड़ी–दौड़ी मथुरा नहीं गईं, पीछे–पीछे नहीं भागीं। क्यों ? प्रेम के साम्राज्य में प्रेमास्पद के मन की बात पूरी हो, यह भावना रहती है। प्रेमी यही चाहते रहते हैं कि प्रेमास्पद को सुख मिले, प्रेमास्पद के मन की बात पूरी हो।

महाराज, गोपियाँ दिन–रात श्रीकृष्ण के विरह में घोर व्याकुल हैं। अगर उनको शीतल वायु का स्पर्श हो जाए, तो चौंक कर कहती हैं कि क्या तू प्यारे श्यामसुन्दर का स्पर्श करके आई है ? कोई अगर मथुरा की ओर जाता हुआ दिखाई दे, तो उससे पूछती हैं कि क्या तुम मथुरा जा रहे हो ? श्रीकृष्ण से हमारा यह सन्देश कहना। कोई मथुरा की ओर से आता दिखाई देता, तो पूछतीं कि हमारे श्यामसुन्दर कैसे हैं ? न उन्हें दिन का पता है, न रात का पता है।

इधर महाराज, गायों की क्या दशा हो गई ! तृण मुँह में लगा है, न उगल पाती हैं, न निगल पाती हैं। क्योंकि गायों ने भी श्रीकृष्ण को बछड़ा बना कर उनके स्पर्श का सुख लिया है। गोपियों ने भी श्रीकृष्ण की समीपता का रस लिया है। अब जिस–जिसने रस लिया है, वे सब बेमन के हो गये। जब गोपियों को हरा–भरा वन दिखाई दे, तो वे अधीर हो जातीं, व्याकुल हो जातीं और कहतीं–हे मधुवन ! तुम क्यों हरे–भरे हो, क्यों नहीं जल गए ?–पुष्प व्यर्थ ही खिलते हैं, यमुना व्यर्थ ही बहती है।

मेरा कहने का तात्पर्य यह था कि जो ब्रज, रस का स्रोत दिखाई देता था, वह अब श्रीकृष्ण के बिना घोर अग्नि में जलता

हुआ दिखाई देता है। उधर श्रीकृष्ण मथुराधीश हो गए। उनकी बड़ी जयजयकार हो रही है। पर वे अधीर हो कर एक दिन उद्धव से कहने लगे कि भैया उद्धव ! मुझे ब्रज की बड़ी सुधि आती है। उद्धव जी ने पूछा, 'क्यों महाराज, यहाँ आपकी सेवा में क्या कठिनाई है ? क्या कमी है ? क्यों ब्रज की सुधि आती है ?'' वे बोले, ''भैया, क्या बताऊँ ? जब से मैंने ब्रज छोड़ा है, किसी ने मुझे कनुआँ कह कर नहीं बुलाया, किसी ने गुंजा की माला नहीं पहनाई, किसी ने दूध के झाग नहीं दिये, किसी ने माखन–चोर नहीं कहा, किसी ने चित्त–चोर नहीं कहा। भैया ऊधों ! मुझे ब्रज की बड़ी सुधि आती है।''

उद्धव जी बोले, ''महाराज ! आप अधीर न हों, व्याकुल न हों।'' श्रीकृष्ण बोले, ''भैया उद्धव, तू तो ब्रह्मवित् पुरुष है, मेरा परम सखा है। मैंने सुना है कि ब्रजवासी मेरे वियोग में बड़े अधीर हैं, व्याकुल हैं। जा भैया, उन्हें नैंक समझा आओ।'' उद्धव बोले ''महाराज, आप अधीर न हों, व्याकुल न हों। मैं जाऊँगा।'' श्रीकृष्ण बोले ''अरे भैया ! तू कैसे जावेगौ, कौन तेरी ओर देखेगौ ?'' तो श्रीकृष्ण ने अपना ही स्वरूप, अपना ही रथ और अपना एक पत्र उद्धव जी को दिया। उद्धव जी श्रीकृष्ण के स्वरूप में उनके रथ पर चढ़ कर ब्रज को गए।

सुनते तो यह हैं कि जैसे–जैसे ब्रज समीप आता जाता है, वैसे–ही–वैसे प्रेम के प्रभाव से उद्धव जी प्रेम से विभोर होते चले जाते हैं। अब देखिए, सबसे पहले दृष्टि उद्धव के रथ पर किसकी पड़ी ? सखाओं ने रथ को देखा और आपस में कहने लगे कि भैया, देखो, यह रथ तो वैसा ही है, जिसमें हमारा दादा गया था। मालूम होता है, हमारा दादा आ रहा है। अब तो उनके हर्ष का वारापार नहीं। यह नियम है कि जितना प्रेम बढ़ता है, हर्ष बढ़ता है, उतनी ही शारीरिक चेष्टाएँ रुकती हैं। रथ जैसे–जैसे समीप आता है, वैसे–ही–वैसे और तीव्र उत्साह बढ़ता चला जाता है।

समीप आने पर देखा कि यह तो उद्धव जी हैं। तो सखाओं ने कहा कि उद्धव जी, जुहार ! आप अच्छे तो हैं ? हमारा दादा अच्छा

तो है ? कभी उसे हमारी याद आती है कि नहीं ? उद्धव बोले, आपके दादा बहुत अच्छे हैं। उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है कि मैं उनकी बात कहूँ। आप अधीर न हों। सखा बोले, "अरे भैया उद्धव ! कहा बात करैगौ तू, हम का सुनेंगे ? वे अब दिन कहाँ, जब हम लाला के साथ खेलते थे, खाते थे ? भैया, हमें अब कछू अच्छौ नाय लगै। हमारौ दादा अच्छौ तो है ? वह कब आवैगौ ? भैया, हम अपनी दशा कहा बतावें ? गौओं की ही दशा देख ले। ये न तृण उगल पाती हैं, न निगल पाती हैं, ज्यों–की–त्यों टकटकी लगाये देखती रहती हैं, स्तब्ध हो गई हैं। भैया ! तू ही चल कर देख ले।"

मैया यशोदा की क्या दशा है, बाबा नन्द की क्या दशा है ! जिस समय उद्धव जी मैया यशोदा जी और नन्द बाबा के पास पहुँचे, तो उन्होंने भी यही पूछा, "उद्धव, हमारौ लाला अच्छौ तो है ? भैया उद्धव, क्या बताएँ ! लाला तो हमें भूल ही गयौ। लाला ने हमारी सुधि ही नाय लई। कब आबैगौ हमारौ लाला ?" उद्धव जी बोले, "बाबा ! आप अधीर न हों। आपके लाला जरूर आयेंगे। आपके लाला ने आपके लिए जुहार कही है। आपके लाला ने कहा है कि बाबा इतनौ कठोर है गयौ है कि जबसे छोड़कर गयौ है, तब से आयौ ही नाय।" उल्टा उलाहना, उल्टा चोर कोतवाल को डाँटे।

मैया यशोदा ने कहा, "भैया उद्धव ! देख यह लाला के लिए दूध के झाग रखे हैं, यह लाला के खिलौना रखे हैं, यह माखन रखा है, यह मिश्री रखी है। हमारौ लाला अच्छौ तो है ? भैया उद्धव ! लाला जहाँ रहे सुखी रहे, जुग–जुग जिऐ। भैया उद्धव, एक बार लाला आ जाता, मुझे अपनी धाय बना लेता। मैया न कहता, तो कोई बात नहीं। मुझसे बड़ा अपराध हुआ। हाय ! हाय !! मैंने लाला के हाथ बाँधे, बड़े कष्ट दिए।" यानी अब यशोदा जी अपनी भूल से पीड़ित हैं, बार–बार लाला को आशीर्वाद देती हैं, और कहती हैं कि भैया उद्धव, मैं तो माँ हूँ, सब कुछ सह लूंगी। पर तू प्रेम की मूर्ति राधा को समझा दे। गोपियों की क्या दशा है, स्वयं ही देख ले। जब

लाला था, तब गोपियों से मेरा घर भरा रहता था। पर जब से लाला गया है, तब से न कोई ग्वालबाल आता है, न कोई गोपी आती है। सब नीरस हो गये हैं।"

जब उद्धव जी गोपियों के पास आये और योग सिखाने लगे, तो गोपियों ने कहा, "उद्धव ! क्या तुम बौरा गये हो, पागल हो गये हो, जो यहाँ दौड़े चले आये ? तुम्हीं बताओ, कहाँ श्याम नहीं हैं ? हमारे रोम–रोम में श्याम–ही–श्याम है। तुम हमें योग सिखाने आये हो ? बताओ, हमारे पास हमारा मन है क्या ? हम बेमन की हैं। हम किसका निरोध करें, हम किससे योग करें ? अगर हमें अवधूतिन बनाना है, योगिनी बनाना है, तो गुरु वहाँ और चेली यहाँ ! यह कैसे हो सकता है ?

तो महाराज, उद्धव जी अपना सारा ज्ञान भूल गये। वे अपनी बुद्धिमानी का अभिमान लेकर आये थे। अब वे श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए लौटते हैं और प्रभु से आराधना करते हैं कि मैं इस ब्रज की लता–पता बन जाऊँ, गोपी–पद पंकज की रज मेरे ऊपर धारण हो, मैं कृतार्थ हो जाऊँ, ! उधर जब वे श्रीकृष्ण के पास पहुँचे, तो उनसे बिगड़ते हुए कहने लगे कि तुम ब्रज को जल्दी जाओ, जल्दी जाओ। नहीं तो सारा ब्रज डूब जायेगा। श्रीकृष्ण के रोम–रोम में गोपियों का दर्शन हुआ, जैसा कि ब्रज में गोपियों के रोम–रोम में श्रीकृष्ण का दर्शन हो रहा था। तो यह प्रेम का अद्वैत है। जब श्रीकृष्ण मथुरा छोड़कर द्वारिकापुरी चले गये, तो वहाँ महाराजाधिराज हो गये। उनकी आठ पटरानियाँ और लगभग सोलह हजार एक सौ रानियाँ थीं। उनका वहाँ जयजयकार होता रहता है। एक दिन नारद जी को विनोद सूझा। उन्होंने विनोद में पटरानी श्रीरुक्मिणी जी से कहा "हे रुक्मिणी जी ! आप दिन–रात प्राणवल्लभ की सेवा करती हैं, प्रेम करती हैं। पर जब देखो तब, महाराज राधे–राधे ही रटते रहते हैं।" यहाँ स्त्री स्वभाव का चित्रण है। अधिकार मानने वाले प्रेमियों का और अधिकार न मानने वाले प्रेमियों का चित्रण है।

यह मत सोचिये कि रुक्मिणीजी प्रेमी नहीं हैं। वे परम प्रेमी हैं, उनके प्रेम में कोई कमी नहीं है। पर प्रेम में भी श्रेणियाँ होती हैं।

रुक्मिणी जी अपना अधिकार मानती हैं। तो यह बात रुक्मिणी जी को पसन्द नहीं आई। किसी का पति किसी अन्य स्त्री की प्रशंसा करे, तो पत्नी को सहन नहीं होती। ऐसे ही अगर कोई स्त्री किसी पर–पुरुष को पसन्द करे या प्रेम करे, तो पुरुष को भी अपना बड़ा तिरस्कार मालूम होता है। ऐसे ही स्त्री को भी अपना बड़ा तिरस्कार मालूम होता है। क्योंकि दोनों ही एक–दूसरे पर अपना अधिकार मानते हैं। तो रुक्मिणी जी उदास हो गईं। आप जानते हैं, जो श्यामसुन्दर प्रेम के ही पुजारी हैं, उनकी प्रिया उदास हो जाएँ, तो उन्हें चैन कहाँ ?

तो रुक्मिणी जी की उदासी से श्रीकृष्ण के सिर में पीड़ा हो गई। वे कितने प्रेमी हैं और उनको प्रेमी कितने प्यारे लगते हैं ! वे प्राणीमात्र के कितने अपने हैं ! इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। यह नियम है कि प्रेम पहले माशूक (प्रेमपात्र) में पैदा होता है। यानी प्रेम पहले प्रभु में होता है, तब कोई उनका प्रेमी होता है। तो रुक्मिणी जी की उदासी श्रीकृष्ण से सही नहीं गई। कितनी प्यारी हैं उन्हें रुक्मिणी जी ! पर गोपियों का प्रेम अधिकार न मानने का था। उन्होंने खुल्लमखुल्ला कह दिया कि हम श्रीकृष्ण की रजा में ही राजी हैं और उन्हें कुछ नहीं चाहिए।। ॐ ।।

३९ (ब)

प्रवचन् :

सत्य को स्वीकार करने से समाज में क्रान्ति आती है, आन्दोलन से नहीं। इसलिए मानव–सेवा–संघ में क्रान्ति का स्थान है, आन्दोलन का नहीं। अरे भाई, हम मानव हैं। हमें मानव होने के नाते किसी का बुरा नहीं चाहना चाहिए। कोई क्यों अपराध करता है ? इस पर सोचो। कर्म से कर्त्ता बनता है कि कर्त्ता में से कर्म निकलता है ? जरा गम्भीरता से सोचो। कर्त्ता में से कर्म निकलता है। तो जब तक कर्त्ता ने अपने को बुरा नहीं बना लिया, तब तक वह बुराई कर सकेगा क्या ? पहले वह अपने को बुरा बनाता है, तब बुराई करता है। वह बुरा न रहे, यह करुणा आपके हृदय में जगे और बुराई के बदले में भलाई करें, तब उसका सुधार होगा। बुराई के बदले में दण्ड देने से सुधार नहीं होगा। दण्ड देना राष्ट्रगत काम है, व्यक्तिगत नहीं है।

यह व्यक्तिगत बात है कि यदि आपके साथ बुराई की गई है, तो यह निर्णय लेना होगा कि मैं बदले में बुराई नहीं करूँगा, क्योंकि मैं मानव हूँ, मैं साधक हूँ। मैं बुराई नहीं करूँगा। तो इस मानवता के द्वारा समाज में क्रान्ति आती है। दण्ड के द्वारा समाज में क्रान्ति नहीं आती। स्थायी क्रान्ति मानवता के ही द्वारा आयेगी। यही मेरा कहना था। देखो, एक साधक–धर्म होता है और एक राष्ट्र–धर्म होता है। दण्ड राष्ट्र दे सकता है, व्यक्ति नहीं दे सकता। व्यक्ति किसी को फाँसी की सजा नहीं दे सकता। राष्ट्र कानून बनाता है कि तुमने मारा है, तुमको फाँसी की सजा दी जाती है। मजिस्ट्रेट कानून के अन्तर्गत सजा सुनायेगा।

अगर आप चाहें, तो एक अदण्डनीय समाज का निर्माण कर सकते हैं। पर कब ? जब गलती करने वाले हम सब लोग अपने

साथ न्याय करें। न्याय के तीन अंग होते हैं। पहला अंग होता है कि हम इस बात को स्वीकार करें कि हमने बुराई की। दूसरा अंग होता है कि उससे हमारे हृदय में वेदना होनी चाहिए कि अरे, राम ! राम !! मानव होकर हमने बुराई की ? तीसरा निर्णय होता है कि अब मैं कभी बुराई नहीं करूँगा। इस तरह निर्दोषता की स्थापना होगी, राजदण्ड से नहीं होगी।

देखिये, मानव–सेवा–संघ ने बड़ी सुन्दर बात बताई। उसने कहा कि देखो भाई, तुम पहले भले हो जाओ। कैसे ? की हुई भूल को न दोहराने का व्रत लेकर भले हो जाओ। यहाँ भले होने के लिए भलाई करनी पड़ी कि बुराई छोड़नी पड़ी ? बुराई छोड़नी पड़ी। तो बुराई छोड़ना जो है यह भलाई का मूल है। इस दृष्टि से मानव–सेवा–संघ की प्रणाली में यह है कि भैया, अपनी भूल को देखो कि आपकी अपनी भूल क्या है ? तो हमारी सबसे बड़ी भूल यह है कि जो संसार की वस्तु है, उसे अपनी मान लेते हैं और जो अपना है, उसे भूल जाते हैं। संसार की वस्तु क्या है ? शरीर, योग्यता, सामर्थ्य संसार की है। अपना क्या है ? परमात्मा अपना है।

तो जो अपना है उसे भी हम भूल गये, जो संसार का है उसे अपना मानने लग गये। अब विचार करके देखो कि अगर यह बात हमारे–आपके जीवन में ठहर जाए कि शरीर संसार के लिए है, अपने लिए नहीं है, तो यह निर्णय करोगे कि अपने द्वारा किसी के साथ बुराई नहीं करूँगा, यथाशक्ति भलाई करूँगा। इसके लिए आपने इस सत्य को स्वीकार किया कि शरीर मेरा नहीं है, मेरे लिए नहीं है; प्रभु मेरे हैं और मेरे लिए हैं।

जब आप इस बात को मानेंगे कि प्रभु मेरे हैं, और मेरे लिए हैं, तो प्रभु के प्रति प्रेम जगेगा कि नहीं ? प्रेम जगेगा। जब आप इस बात को मानेंगे कि शरीर मेरा नहीं है, मेरे लिए नहीं है, तो संसार की सेवा बनेगी कि नहीं ? सेवा बनेगी। सेवा के बदले में भी कुछ नहीं चाहिए और प्रेम के बदले में भी कुछ नहीं चाहिए, तो त्याग

आयेगा कि नहीं ? तो आपका स्वरूप क्या हुआ ? मानव का स्वरूप क्या हुआ ? सेवा, त्याग और प्रेम। यही मानव का स्वरूप हो गया। तो सेवा के लिए क्या किया ? इस सत्य को स्वीकार किया कि शरीर मेरा नहीं है, मेरे लिए नहीं है। प्रेम के लिए क्या किया ? इस सत्य को स्वीकार किया कि प्रभु मेरे हैं और मेरे लिए हैं। और त्याग के लिए क्या किया ? इस सत्य को स्वीकार किया कि सेवा के बदले में भी कुछ नहीं चाहिए और प्रेम के बदले में भी कुछ नहीं चाहिए।

जब संसार की वस्तु से संसार की सेवा कर रहे हैं, तो हमें क्या हक है कि उसके बदले में हमें कुछ चाहिए ? और जब हम अपने ही को अपना प्रेम दे रहे हैं, तो प्रेम से भी बढ़िया क्या कोई और चीज है जो हमें चाहिए ? तो देखो, अचाह होना भी जीवन का सत्य निकला, प्रेमी होना भी जीवन का सत्य निकला और उदार होना भी जीवन का सत्य निकला। उदार होना, अचाह होना, प्रेमी होना जीवन का सत्य है।

इस दृष्टि से विचार करके देखें कि हर भाई, हर बहन यदि भूल–रहित होने की बात को पसन्द कर लें कि शरीर, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य संसार के लिए हैं, अपने लिए नहीं हैं; तो इस सत्य को मानने मात्र से निर्विकारता प्राप्त होती है और उदारता जाग्रत होती है। क्या निर्विकारता और उदारता प्राप्त होने पर लोभ सतायेगा, मोह सतायेगा, अभिमान आयेगा, विषमता दीखेगी ? कदापि नहीं। तो समता आ गई, निर्लोभता आ गई, निर्मोहता आ गई, निरभिमानता आ गई, निर्विकारता आ गई। करके देखो, जरूर आ जायेगी।

अच्छा, क्या अपना अपने को प्यारा नहीं लगता ? प्यारा लगने का और कोई उपाय है क्या ? अगर हम प्रभु को अपना मानकर प्यार नहीं दे सकते, तो किसी बल के द्वारा प्यार पैदा होता है क्या ? किसी योग्यता से पैदा होता है क्या ? किसी से नहीं। तो मैं आपसे पूछता हूँ कि परमात्मा को अपना मानने के सिवाय और क्या भजन होगा ? लेकिन हम लोग करते क्या हैं ? जो शरीर

संसार की सेवा के लिए मिला था, उसे अपने काम में लगा लिया कि मैं अपने शरीर से भगवान् का नाम लूँगा, तो उसका फल मुझे मिलेगा। मैं यह नहीं कहता हूँ कि नाम लेना कोई बुरी बात है या नाम नहीं लेना चाहिए।

मानव–सेवा–संघ की प्रणाली में बताया जाता है कि यदि भगवान् की हर चीज अपने को प्यारी लगती है, तो भगवान् का नाम भी हमको प्यारा लगेगा। आप विचार करके देखो कि क्या नाम का प्यारा लगना लाभदायक है कि नाम का उच्चारण करना लाभदायक है ? नाम का प्यारा लगना लाभदायक है। अच्छा, प्यारे का नाम होगा तब प्यारा लगेगा कि गैर का नाम प्यारा लगेगा ? प्यारे का नाम प्यारा लगेगा। फिर प्यारे की सृष्टि, प्यारे की हर चीज प्यारी लगेगी। भगवान् को अपना मानेंगे, तब भजन होगा कि किसी क्रिया विशेष से भजन होगा ? अपना मानेंगे, तब भजन होगा।

गुरुवाणी से, भक्तवाणी से और वेद वाणी से सुना है कि जो सदैव रहता है उसी को परमात्मा कहते हैं, जो सभी का होता है उसी को परमात्मा कहते हैं, जो सर्वत्र है, जो समर्थ है, जो अद्वितीय है, उसी को परमात्मा कहते हैं। परमात्मा एक ही है। इस दृष्टि से सोचिये कि जो चीज सभी की होगी, उसे हम अपना मान सकते हैं कि नहीं ? अच्छा, जो सदैव है, उसका कभी नाश होगा नहीं। परमात्मा सभी का होने से अपना भी है, सदैव होने से अभी है और सर्वत्र होने से अपने में भी है।

तो परमात्मा का भजन कब बनेगा ? जब तुम यह मानोगे कि परमात्मा अपना है, अपने में है, अभी है, समर्थ है, अद्वितीय है। यह पाँच बातें मान लेने के बाद ही भजन होगा कि पहले हो जाएगा ? इनके बाद ही भजन होगा। तो परमात्मा अपना हुआ, अपने में हुआ, अभी है, समर्थ है और अद्वितीय है। अद्वितीय होने से हमको पहचान नहीं करनी पड़ेगी। वह दो तो हैं नहीं, एक ही हैं। समर्थ होने से हमारे अन्दर भय नहीं रहेगा। अपने में होने से अप्राप्त नहीं रहेगा

और अपना होने से प्रिय लगेगा। बहुत बढ़िया बात है। अपना होने से तो हमको प्यारा ही प्यारा लगेगा, अपने में होने से अप्राप्त नहीं रहेगा अर्थात् प्राप्त रहेगा, अभी होने से भविष्य की आशा नहीं करनी पड़ेगी, समर्थ होने से हम अभय होंगे और एक ही होने से जान–पहचान की जरूरत ही नहीं पड़ेगी कि वह क्या है, कैसा है ?

एक बार की बात है कि मथुरा में बहुत बड़ा यज्ञ हुआ। लाखों आदमियों की भीड़ बताते हैं। इत्तफाक की बात है कि हमको भी बुला लिया गया। वह यज्ञ पं० श्रीराम जी ने कराया था। वे पुराने आर्य समाजी हैं। आर्य समाज के लोग भी उसमें आये थे, सनातनी लोग भी आये थे। दोनों तरह के लोग आये थे। एक महात्मा वेदों के बड़े पण्डित थे। वे परमात्मा की महिमा और स्वरूप का वर्णन कर रहे थे कि परमात्मा ऐसे हैं, ऐसे हैं। उसके बाद हमको बोलना पड़ा। बीस मिनट का समय था। बड़ी मीटिंग थी। एक आदमी को २० मिनट का समय दिया गया। हमने कहा कि परमात्मा ऐसे हैं, ऐसे हैं, यह तो हम तब सोचें कि जब हम उन्हें छोड़ सकें। जो छोड़ा नहीं जा सकता, वह कैसा है, इसका प्रश्न आता है क्या ? परमात्मा का वर्णन अभीष्ट है या कि परमात्मा को अपना मानना अभीष्ट है ? अपना मानना अभीष्ट है। जब वह एक ही है, सदैव है, तो मौजूद का चिन्तन करें, कि मौजूद को प्यार करें ?

परमात्मा के मानने वाले सोचें कि तुम क्या करते हो ? मानते तो यह हो कि परमात्मा मौजूद है। मौजूद को तो प्यार किया जाता है। मौजूद को क्या बुलाया जाता है वाणी से, मन से, बुद्धि से ? बोलो पापा ? मौजूद चीज को क्या बुलाओगे, क्या उसे ढूँढ़ोगे ? प्यार करोगे। तो परमात्मा प्यारा लगना चाहिए, परमात्मा को अपना मानना चाहिए, परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि मौजूद है।

देखिए, परमात्मा हमको क्यों नहीं मिलता ? परमात्मा के अस्तित्व को हम स्वीकार ही नहीं करते कि वह मौजूद है। इतना

सुन लेते हैं कि परमात्मा है। उसके अस्तित्व को कहाँ स्वीकार करते हैं, उनके महत्त्व को कहाँ स्वीकार करते हैं, उसमें अपनत्व को कहाँ स्वीकार करते हैं ? अगर हमने प्रभु के अस्तित्व को, महत्त्व को, अपनत्व को स्वीकार किया होता, तो परमात्मा हमको प्यारा लगता, परमात्मा हमको अप्राप्त न लगता। यह तो हम करते नहीं।

अच्छा, अब रहा शरीर, जो कि संसार की वस्तु है। संसार भले ही परमात्मा का हो। यह तो हो सकता है। लेकिन क्या शरीर संसार से बाहर जा सकता है ? नहीं। तो शरीर के द्वारा हमें परमात्मा के जगत् की सेवा करनी चाहिए थी और अपने द्वारा हमें परमात्मा को अपना मानना चाहिए था। अगर हम अपने द्वारा परमात्मा को अपना मान लें और शरीर के द्वारा परमात्मा के जगत् की सेवा करें, तो आप जानते हैं, क्या परिणाम निकलेगा ? अगर कोई आपके परिवार की सेवा करता है, तो आपको वह प्रिय लगता है कि अप्रिय लगता है ? बहुत प्यारा लगता है। तो जब हम परमात्मा के जगत् की सेवा करेंगे, तो हम परमात्मा को प्यारे लगेंगे कि नहीं ? प्यारे लगेंगे। परमात्मा को अपना मानेंगे, तो वे हमको प्यारे लगेंगे कि नहीं ? लगेंगे।

तो हम परमात्मा को प्यारे लगें, परमात्मा हमें प्यारे लगें। हमारे और परमात्मा के बीच प्रेम का आदान–प्रदान हो, यह तो हमारा काम था। लेकिन वाह रे हम ! शरीर को लेकर मौन होकर बैठ जायेंगे एकान्त में। यदि मौन से परमात्मा मिलेगा, तो पत्थर के टुकड़े को परमात्मा मिलेगा कि तुमको मिलेगा ? तुम पत्थर के समान तो मौन हो नहीं सकते। बोले, हम तो खूब गर्मी–सर्दी और धूप सहेंगे। तो तुमको परमात्मा मिलेगा कि वृक्षों को मिलेगा ?

हमसे सबसे बड़ी भूल यह हो गई कि हमें परमात्मा की प्राप्ति का उपाय मालूम तो है और कर भी सकते हैं, लेकिन करते नहीं हैं। यह मानेंगे ही नहीं कि सृष्टि एक इकाई है और इस इकाई का कोई एक मालिक है। यदि कोई कहे कि सृष्टि के मालिक तो हम हैं। तो

क्या दुनियाँ का बड़े–से–बड़ा वैज्ञानिक यह कह सकता है कि हमने सूर्य बना लिया ? मनुष्य ने सूर्य, वायु, आकाश, पृथ्वी, जल आदि का उपभोग किया या कि इनको बनाया ? केवल भोग किया।

सृष्टि किसी व्यक्ति की बनाई हुई है क्या ? नहीं। तो इस सत्य को हम मान लें कि सृष्टि का रचयिता कोई मनुष्य नहीं हो सकता, अथवा यों कहो कि "मैं" नहीं हो सकता। एक गेहूँ का दाना भी पैदा नहीं कर सकते। गेहूँ मिल जाये तो पूड़ी तो बना लोगे। मनुष्य ने सृष्टि का उपयोग किया है, कि उसको उत्पन्न किया है ? उपयोग किया है। तो सृष्टि का उपयोग करना कहलाता है, भोग। और सृष्टि की सेवा में काम आना कहलाता है, योग।

योग की इस परिभाषा पर गौर कीजिए कि सृष्टि का अपने लिए उपयोग करना भोग, सृष्टि की सेवा में शरीर को लगा देना योग। परमात्मा को अपना मानना योग। परमात्मा से कुछ माँगना भोग। अगर यह बात समझ में आ जाए, जँच जाए, रुच जाए, तो अनुभव करके देखिए। परमात्मा को भाई, अपना मानना है, पर उससे कुछ चाहिए नहीं। सृष्टि के काम आना है, सृष्टि की दी हुई वस्तु के द्वारा, सृष्टि से मिली हुई वस्तु के द्वारा सृष्टि के लिए उपयोगी होना है, उसका भोग नहीं करना है। परमात्मा से भी कुछ माँगना नहीं है। अगर यह दो बातें हम और आप मान लेते हैं, तो जीवन में क्रान्ति आयेगी, कि नहीं ? अवश्य आयेगी।

इसलिए मानव–सेवा–संघ कहता है कि भैया ! तुम सत्संग करो। सत्संग तुम्हारा स्वधर्म है। सत्संग क्या है ? संसार की वस्तु के द्वारा संसार के काम आना और परमात्मा को अपना मानना। न संसार के काम आने के बदले में कुछ चाहना और न अपने से कुछ चाहना अर्थात् अचाह होना है। इन तीन बातों से सारे जीवन की समस्याएँ हल हो जाती हैं–(१) मुझे कुछ नहीं चाहिए। (२) प्रभु अपने हैं। (३) सब कुछ प्रभु का है। यही जीवन का सत्य है। इसको स्वीकार करने से उदारता, स्वाधीनता और प्रेम प्राप्त होगा। उदारता

से जीवन जगत् के लिए, स्वाधीनता से अपने लिए और प्रेम से प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। यही मानव का सुन्दरतम चित्र है।।ॐ।।

—•—

४० (अ)

प्रवचन :

प्रश्न–महाराज जी ! हमने सुना है कि प्रारब्ध कर्म का जो फ़ल है, वह तो हमको भोगना ही पड़ेगा। वह इधर–उधर नहीं हो सकता। और यह भी हमको बतलाया गया है कि भगवान् के शरणागत होकर उसकी शरण में आ जाएँ और कोई आफत हो, तो निर्बल के बल राम होते हैं। भगवान् उसको मुसीबत से निकाल देते हैं। इन दोनों को कैसे मिलाया जाए ?

उत्तर–देखिये, मैंने यह समझा है कि प्रारब्ध माने, प्राकृतिक न्याय अर्थात् साधन–सामग्री। और पुरुषार्थ माने, उस सामग्री का सदुपयोग। यह दो अलग–अलग चीजें नहीं हैं। एक ही चीज के दो पहलू हैं। जैसे, जो बल आपको मिला है, जो योग्यता आपको मिली है, जो वस्तु आपको मिली है, जो साथी आपको मिले हैं, वे सब साधन–सामग्री के रूप में मिले हैं, जीवन के रूप में नहीं हैं। मानव को यह भ्रम तब होता है, जब प्रारब्ध से मिले हुए को जीवन मान लेता है। वह जीवन नहीं है, वह तो साधन–सामग्री है। उसका सदुपयोग करो, तो जीवन मिलेगा।

इससे यह निश्चित हुआ कि प्रारब्ध चाहे जैसा क्यों न हो, दुःखमय हो या सुखमय हो। अगर हम दुःखमय और सुखमय परिस्थिति का ठीक उपयोग कर लेते हैं, तो हमें जीवन मिल जायेगा। मैंने तो प्रारब्ध को और पुरुषार्थ को इस दृष्टि से समझा

है। क्योंकि किसी भी कर्म का फल अविनाशी नहीं होता और किसी भी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा हम स्वाधीन नहीं होते। यह दोनों ही बातें बड़ी गम्भीर और विचारणीय हैं। कर्म का फल अविनाशी नहीं होता और वस्तु, योग्यता सामर्थ्य के द्वारा स्वाधीन नहीं होते। स्वाधीन हुए बिना न तो प्रभु की प्राप्ति होती है, न जीवन की प्राप्ति होती है।

इसलिए स्वाधीन होना हम सबके लिए अनिवार्य है। स्वाधीन किसी परिस्थिति के द्वारा होते नहीं, हो सकते नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि हमारी परिस्थिति प्रारब्धवश चाहे जैसी हो, उसके द्वारा स्वाधीनता हमें नहीं मिलेगी। मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का अगर आप प्रभु विश्वासी हैं, तो प्रभु के नाते; भौतिकवादी हैं, तो जगत् के नाते और अध्यात्मवादी हैं, तो आत्मा के नाते सदुपयोग करना पड़ेगा। सदुपयोग कहो, चाहे सेवा कहो। क्रियात्मक सेवा वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा होती है और भावात्मक सेवा बुराई–रहित होने से होती है। तो बुराई–रहित होकर बड़ी व्यापक सेवा कर सकते हैं और मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा हम क्रियात्मक सेवा कर सकते हैं।

जो कुछ हमें मिला है वह सेवा–सामग्री है। हम उस सेवा–सामग्री को भोग–सामग्री बना लेते हैं और फिर रोग में, शोक में बँध जाते हैं। कोई भी पुरुषार्थ भोग की रुचि रखते हुए या भोग भोगते हुए हमें लक्ष्य तक पहुँचा नहीं सकता। फिर आदमी घबराकर कहता है कि भाई, प्रारब्ध ठीक है कि पुरुषार्थ ठीक है ? कोई कहे कि बायाँ पैर ठीक है कि दायाँ पैर ठीक है ? तो आप क्या कहेंगे ? दोनों पैर ठीक हैं, दोनों पैरों से चला जाता है। प्रारब्ध ने परिस्थिति पैदा कर दी। पुरुषार्थ ने परिस्थिति का सदुपयोग कर दिया और आपको अपने में परमात्मा मिल गया। आप स्वाधीन हो गये। आपके दुःखों की निवृत्ति हो गई। आपको चिरशान्ति और जीवनमुक्ति मिल गई। इस दृष्टि से यदि आप सोचेंगे, तो प्रारब्ध और पुरुषार्थ में कोई झगड़ा नहीं है।

अगर आप सुख–दुःख के भोग को ही जीवन मानेंगे, जो कि वास्तव में है नहीं, तब तो झगड़ा है ही। इसे कोई मिटा नहीं सकता, मिट सकता ही नहीं, मिटेगा ही नहीं। सुख के भोगी का दुःख कभी मिटेगा ही नहीं, आज तक मिटा नहीं, मिट सकता नहीं। इसलिए परिस्थिति को जीवन मानकर तो हमारा–आपका विकास नहीं हो सकता। परिस्थिति को साधन–सामग्री मानकर हम सबका विकास हो सकता है।

इस दृष्टि से आप प्रारब्ध के सदुपयोग में पुरुषार्थ का उपयोग करें और फिर सबसे बड़े पुरुषार्थ की खोज करें। अन्तिम पुरुषार्थ जीवन में क्या है ? मेरे जानते, तो बुराई–रहित होना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है, निर्मम होना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है, अचाह होना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है, प्रेमी होना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। यह सभी मुझे पुरुषार्थ मालूम होते हैं।

अगर आप प्रेमी होना पसन्द करें, अचाह होना पसन्द करें, बुराई–रहित होना पसन्द करें, तो आपको बहुत बड़ा लाभ हो जाए। बुराई–रहित होने से आप संसार के काम आ जायेंगे, इतना बड़ा लाभ होगा। जिसके जीवन में कोई बुराई नहीं रहती, उसको संसार बहुत पसन्द करता है। संसार उसके पीछे–पीछे चलता है, उसको अपना पथ–प्रदर्शक मान लेता है, उसकी बड़ी पूजा भी करता है। इतना उदार है संसार।

लेकिन हम बुराई–रहित होते नहीं और फिर कहते हैं कि साहब, न तो परमात्मा की कृपा हमारे काम आती है, न सत्पुरुषों की सद्भावना हमारे काम आती है। इसलिए आप अपने को बुराई–रहित कीजिए। यह बहुत बड़ी बात है और सबके लिए सुलभ है। बुराई न करने की बात सबके लिए सुलभ है, क्योंकि इसके लिए किसी और की सहायता नहीं लेनी पड़ेगी। यदि आप बुराई–रहित हो जायेंगे, तो अपने आप आपका चित्त शुद्ध और शान्त हो जायेगा। चित्त के शुद्ध और शान्त होने पर आपमें जिज्ञासा के लिए विचार का

उदय होगा और भगवत्–प्राप्ति के लिए स्मृति की जागृति होगी तथा सेवा के लिए आवश्यक सामर्थ्य मिलेगी। ऐसा विधान है।

इसलिए प्रारब्ध को बुरा मत समझो, भला मत समझो। प्रारब्ध से कोई भाग्यशील या अभागा नहीं होता। जो बुराई–रहित हो जाता है, वही भाग्यशील होता है। मेरे जानते, बुराई–रहित रहित होना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। अचाह होना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। भगवान् को अपना मानना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है। यह बहुत बड़े पुरुषार्थ हैं, जो मैं बता रहा हूँ। पुरुषार्थ होता है 'स्व' के द्वारा। आप अपने द्वारा पुरुषार्थ कर सकते हैं। बुराई–रहित होने पर शरीर, वस्तु, योग्यता के द्वारा स्वतः भलाई होने लगती है। उसको सीखना नहीं पड़ता, उसके लिए कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। जहाँ बुराई–रहित हुए, भलाई अपने आप होने लगती है। फिर उस होने वाली भलाई का अभिमान और फल छोड़ना होगा। तब आप अपने में अपने को सन्तुष्ट पायेंगे।

'अपने में' शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक तो जो वास्तव में अपना ही है, उसी में आप सन्तुष्ट पायेंगे और दूसरे अपने में ही सन्तुष्ट हो जायेंगे। जैसी आपकी निष्ठा हो, वैसा ही अपने को जान लीजिए, मान लीजिए। लेकिन आपको अपने में सन्तुष्ट होना ही पड़ेगा, स्वाधीन होना ही पड़ेगा। तभी आप सही अर्थ में प्रेमी हो सकेंगे। जब तक आप स्वाधीन नहीं होते, तब तक प्रेमी नहीं हो सकते और भाई, उदार भी नहीं हो सकते। उदार बिना हुए आप संसार के काम के नहीं और प्रेमी हुए बिना प्रभु के काम के नहीं। यह कोई काल्पनिक बात नहीं है, वास्तविकता है। प्रभु के काम का होना है, तो प्रेमी होना ही पड़ेगा और संसार के काम का होना है, तो उदार होना पड़ेगा।

यह उदारता और प्रेम मेरी भाषा में साधना है। साधना को मैं अविनाशी तत्त्व मानता हूँ। यह अविनाशी तत्त्व है, जो उदारता, प्रेम और स्वाधीनता के रूप में है। यह सब साधना के रूप हैं। क्योंकि

जो अपने को अनुदार पाता है, वही उदार होता है। जो अपने को किसी आसक्ति में पाता है, वही प्रेमी होता है। जो अपने को पराधीन पाता है, वही स्वाधीन होता है। तो उदार हो जाना, स्वाधीन हो जाना, प्रेमी हो जाना अथवा उदार, स्वाधीन और प्रेमी होने की आवश्यकता अनुभव करना–यह प्रार्थना है। मैं उदार हो जाऊँ, मैं स्वाधीन हो जाऊँ, मैं प्रेमी हो जाऊँ–ऐसी जरूरत महसूस करना बहुत बड़ा पुरुषार्थ है।

यह कब सम्भव होगा ? यदि आप इस बात को मान लें कि मैं उदार हो सकता हूँ, मैं स्वाधीन हो सकता हूँ, मैं प्रेमी हो सकता हूँ। यह आपको पहले मान लेना पड़ेगा। क्यों ? अगर यह मान लेंगे कि मैं उदार हो ही नहीं सकता, तो उदारता की माँग कैसे जगेगी ? मैं स्वाधीन हो ही नहीं सकता, तो स्वाधीन होने की माँग कैसे जगेगी ? मैं प्रेमी नहीं हो सकता, तो प्रेमी होने की माँग कैसे जगेगी ?

प्रेमी होने की माँग तभी जगेगी, जब आप इस बात को स्वीकार करें कि मैं मानव होने के नाते प्रेमी हो सकता हूँ, स्वाधीन हो सकता हूँ और उदार भी हो सकता हूँ। यह सीधी बात है। उदार होने के पीछे, प्रेमी होने के पीछे, स्वाधीन होने के पीछे एक बहुत बड़ा दर्शन है आपका। अब आप कहेंगे कि उदार होने के पीछे हमारा क्या दर्शन है ? तो जनाब, यदि आपसे प्रश्न कर दें कि क्या आप शरीर को संसार की सीमा से बाहर ले जा सकते हो ? किसी के पास कोई उपाय है क्या ? क्या आप अपने शरीर को संसार से अलग कर सकते हैं ? बोलो। नहीं कर सकते। यह खाली उत्तर देते हैं कि आप ऐसा मानते हैं ?

अगर ऐसा मानते हैं, तो अपने शरीर की भाँति संसार को अपना क्यों नहीं मानते ? और संसार की भाँति शरीर से अपने को अलग क्यों नहीं मानते ? दो ही बातें हैं। अगर आप शरीर और संसार की एकता को स्वीकार करते हैं, तो जैसे शरीर की सेवा का, शरीर के हित का ध्यान रहता है, वैसे ही संसार के हित का ध्यान

क्यों नहीं रहता ? और जैसे संसार के दुःख से आप मुक्त रहते हैं, वैसे ही अपने शरीर के दुःख से मुक्त क्यों नहीं होते ? होना चाहिए कि नहीं ? हो सकते हैं कि नहीं ? होना भी चाहिए और हो भी सकते हैं। अरे भाई, अगर आप यह मान लें कि सभी अपने हैं। कैसे ? जैसे अपने शरीर की भाँति सभी अपने हैं। तो फिर आपको बुराई करने का साहस कैसे होगा ? अथवा यह मान लें कि जैसे संसार मुझसे अलग है, जितना दूर है, यह शरीर भी मुझसे उतना ही दूर है। जैसे संसार पर मेरा स्वतन्त्र अधिकार नहीं हैं, वैसे ही अपने शरीर पर भी मेरा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है।

अगर आप यह मान लें, वैसे तो शरीर और संसार आप से दूर ही हैं, आपसे चिपका हुआ नहीं है, आप उसमें बैठे हुए नहीं हैं। यह केवल भ्रम है कि आप यह सोचते हैं कि मैं शरीर के भीतर कहीं बैठा हूँ या संसार में हूँ। यह बहुत बड़ा भ्रम है। ईमानदारी की बात तो यह है कि शरीर और संसार का आपसे कभी मिलन हुआ ही नहीं। कभी मिलन नहीं हुआ और हो सकता भी नहीं। फिर भी यदि आप यह मान लेते हैं कि मानो, मैं शरीर में कहीं बैठा हूँ यानी मानो शरीर मैं हूँ अथवा शरीर मेरा है–ऐसा मान लेते हैं, तो यह भूल है। इस भूल को मिटाइये।

आप अपने ज्ञान के प्रकाश में स्वयं को देखिए कि क्या सचमुच आपका शरीर से मिलन हुआ है ? अथवा जब तक आप किसी कार्य को नहीं करना चाहते, तब तक शरीर का आपने कोई उपयोग किया है ? क्या राय है ? किसी कार्य में ही शरीर का उपयोग होता है। कार्य तुम्हारा है नहीं, कार्य है जगत् का। यह बहुत सूक्ष्म बात है। इसमें बहुत वाद–विवाद, तर्क चल सकता है और गम्भीर विचार चल सकता है कि हमारा और शरीर का कभी मिलन नहीं हुआ। यानी जैसे शरीर बालू के ऊपर बैठा है, जैसे बालू की समीपता का अनुभव शरीर कर रहा है, वैसे हम कभी भी शरीर की समीपता का अनुभव नहीं कर सकते। बहुत दूर, बहुत दूर।

आप यह कहेंगे कि पागल बात कर रहा है। भला, हम शरीर से कैसे दूर हो सकते हैं ? आपको ऐसा ही लगता होगा। लेकिन वास्तव में यह पागलपन नहीं है। पर हम शरीर में बैठे हैं, यह महा पागलपन है। शरीर नहीं रहेगा, तो मेरी क्षति हो जाएगी। यह मानना बड़ा भारी पागलपन है।

भाई, ज्ञान पूर्वक देखो, तो मालूम होगा कि आपका और आपके शरीर का मिलन ही नहीं है, है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं। जैसे आपका और आपके शरीर का मिलन हुआ नहीं, ऐसे ही सच पूछिए, तो 'मैं' 'है' से कभी अलग है नहीं, हुआ नहीं, हो सकता नहीं। दोनों बातें विचित्र हैं। हम परमात्मा से कभी अलग हुए नहीं, हो सकते नहीं और शरीर से हमारा मिलन हुआ नहीं, हो सकता नहीं। लेकिन दोनों ही बातें उलटे रूप से हम स्वीकार करते हैं।

परमात्मा है तो, पर न जाने कब मिलेगा ? अरे भले आदमी, जब तुम कहते हो कि वह सदैव है, सर्वत्र है, सभी का है। तो कब मिलेगा कि अब मिला है ? कितने आश्चर्य की बात है ! इससे बड़ा और कोई पागलपन हो सकता है क्या, यह सोचना कि न जाने परमात्मा कब मिलेगा ? जबकि परमात्मा से आप कभी अलग हो सकते नहीं, हैं नहीं। हाँ, परमात्मा में रहते हुए भी, परमात्मा से अभिन्न रहते हुए भी हमने–आपने जो ममता के आधार पर, कामना और तादात्म्य के आधार पर शरीर के साथ सम्बन्ध स्वीकार कर लिया है, यह हमारी भूल है, यह हमारा प्रमाद है।

अगर हम शरीर की ममता, कामना और तादात्म्य तोड़ दें अचाह होकर, निर्मम होकर और, एक और बहुत सूक्ष्म, बहुत गम्भीर और एक बार कह दूँ, कि बहुत गम्भीर, अप्रयत्न होकर। पहले निर्मम होकर, फिर अचाह होकर, और फिर अप्रयत्न होकर। इन तीनों में से एक भी उपाय छोड़ा नहीं जाएगा। ममता रखते हुए, चाह रखते हुए कहते हैं कि महाराज ! मूक सत्संग नहीं होता, अप्रयत्न नहीं हो

पाते। अरे भाई, ममता रखते हुए, चाह रखते हुए, क्या अप्रयत्न हो सकते हो ? कदापि नहीं हो सकते। लेकिन निर्मम होकर, अचाह होकर अभी हो सकते हो। जब चाहो तब हो सकते हो।

तो मैं महानुभावों से यह निवेदन कर रहा था कि शरीर के द्वारा आप परमात्मा को पकड़ नहीं सकते। मैं यह कह दूँ कि मिल नहीं सकते, तो इसमें आपत्ति की बात नहीं है। आप तो मिल सकते हैं, लेकिन शरीर द्वारा नहीं मिल सकते। आप अपने द्वारा मिल सकते हैं। हाँ, शरीर द्वारा परमात्मा की सृष्टि का कार्य कर सकते हैं। लेकिन आप अपना कार्य करते हैं, जबकि आपका कोई कार्य है नहीं। जो आपका कार्य है आपका निजी, आपका जो पर्सनल कार्य है वह है 'सत्संग'। उसे आप करते नहीं। आप शरीर से करने वाले कार्यों को अपना मान लेते हैं। यह बहुत बड़ी भूल है। यह बहुत बड़ी असावधानी है। अरे भाई, शरीर के द्वारा आप जो भगवान् का नाम लेते हैं, यह 'सत्संग' नहीं है।

एक लड़का मिला था, वह कहता था कि ध्यान करते हैं, तो ध्यान में मुझे भगवान् का दर्शन होता है, पर मैं इससे आगे क्या करूँ ? अब आप सोचिये कि ध्यान भी हो गया, भगवान् का दर्शन भी हो गया। आपको यदि आपका कोई सम्बन्धी मिल जाए, तो क्या आप उससे पूछेंगे कि मैं क्या करूँ ? आप तुरन्त कहेंगे कि भाई, हमारा सम्बन्धी आया है। एकदम आपका हृदय उसके प्रेम से भरेगा। तो क्या यह आपका अनुभव नहीं है कि जब आपको कोई अपना मिलता है, तो वह प्यारा लगता है ? उसकी सेवा में आप वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का उपयोग नहीं करते हैं क्या ? अवश्य करते हैं।

तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा अगर आप परमात्मा का काम करना चाहते हैं–परमात्मा का काम माने, संसार का काम–तो आप बहुत आराम से कर सकते हैं। फिर कार्य के अन्त में आपका परमात्मा में

ही नित्य वास रह सकता है। परमात्मा का काम करने वाला परमात्मा में ही रह सकता क्या, रहता ही है। वैसे तो सारी सृष्टि परमात्मा में रहती है। लेकिन महसूस नहीं करते कि परमात्मा में रहते हैं। मनुष्य ने अपना काम उत्पन्न कर लिया है। काम माने, करने में जो सुख है वह मुझे चाहिए। करने से जो सुख मिलता है वह मुझे चाहिए।

आप कहेंगे कि काम करेंगे, तो बहुत बड़ा लाभ हो जायेगा। तो करने के द्वारा जो अपने लाभ की बात सोचते हैं, उसको काम कहते हैं। भगवान् का जो काम करते हैं, उसको पूजा कहते हैं और जो संसार का काम करते हैं, उसको कर्त्तव्य कहते हैं या सेवा कहते हैं। तो संसार का काम–सेवा, भगवान् का काम–पूजन और अपना काम–बन्धन। बहुत बड़ा बन्धन है अपना काम करना। आप कहेंगे कि रोटी खाना, दवाई खाना, कपड़े पहनना आदि हमारे ही तो काम हैं। ईमानदारी से बताओ कि शरीर से भिन्न अनुभव करके आपने किसी काल में रोटी खाई है क्या ? खा पाओगे क्या ? भूख लगी है क्या ? बोलो। शरीर से अलग करके अपने को अनुभव किया ही नहीं, बोलें कैसे ? बुद्धि के बल पर तो कह दोगे कि हाँ–हाँ ठीक है। क्योंकि ना कहने की हिम्मत है नहीं।

तो मैं आपसे निवेदन कर रहा था कि आपने अपने लिए क्या करने का निर्णय किया है ? क्या सोचा है ? आप अपने लिए क्या करेंगे ? फिर अपने से पूछिए कि आप संसार के लिए क्या करेंगे ? फिर सोचिये कि परमात्मा के लिए क्या करेंगे ? आप सोचिये तो सही कि आप अपने लिए क्या करेंगे, क्या कर रहे हैं अपने लिए, क्या करना चाहते हैं अपने लिए, क्या कर सकते हैं अपने लिए ? इन बातों को सोचिए।

आप अपने लिए अपने द्वारा अचाह हो सकते हैं, निर्मम हो सकते हैं और प्रभु–विश्वासी हो सकते हैं, जरूर हो सकते हैं। लेकिन आप अपने द्वारा अपने लिए इन बातों को छोड़ कर और क्या

कर सकते हैं, बताइये जरा ? कोई बताए भाई, कोई बताए बहन ! अचाह होने के अतिरिक्त, निर्मम होने के अतिरिक्त, प्रभु–विश्वासी होने के अतिरिक्त आप अपने द्वारा अपने साथ क्या कर सकते हैं ? विचार करके देखिए। प्रभु विश्वासी आप हो सकते हैं, अचाह आप हो सकते हैं, निर्मम आप हो सकते हैं। अपने द्वारा हो सकते हैं, अपने लिए हो सकते हैं। दूसरों के लिए नहीं, अपने लिए हो सकते हैं। अपने द्वारा हो सकते हैं और अभी हो सकते हैं। उसका महान् फल है–निर्विकारता, चिरशान्ति, स्वाधीनता और प्रेम का उदय। यह अपने द्वारा हो सकता है। अपने द्वारा आप चार बातें जरूर कर सकते हैं–परमात्मा को अपना मान सकते हैं, इसमें कोई बाधा नहीं डाल सकता। आप अचाह हो सकते हैं, निर्मम हो सकते हैं, प्रभु में विश्वास कर सकते हैं और अपने द्वारा कर सकते हैं।

प्रश्न–स्वामी जी ! हम अपने को जानें, तभी तो कर सकेंगे ?

उत्तर–अपने को जानने का प्रश्न तो करने के बाद नहीं रहेगा। लेकिन आप अपने को महसूस करते हैं कि नहीं ? भले ही आप न जानते हों कि मैं क्या हूँ। पर यह तो जानते हैं कि मैं हूँ और यह भी जानते हैं कि 'मैं' 'यह' नहीं हूँ।

प्रश्न–स्वामी जी, शरीर से अलग होने का अनुभव कहाँ है ?

उत्तर–सुनो, बात सुनो। अगर आप अपने द्वारा अच्छी तरह जानते हैं कि मैं जिसे 'यह' करके अनुभव कर रहा हूँ, 'मैं' करके उसे स्वीकार कर ही नहीं सकता। जिसको आप 'यह' करके स्वीकार कर रहे हैं, उसको 'मैं' करके स्वीकार कैसे करेंगे ? नहीं कर सकते।

मैं आपसे बड़ी नम्रता से निवेदन करना चाहता हूँ। ठण्डी तबियत से सोचिये कि मेरे साथ कोई बुराई न करे। आप जानते हैं कि बुराई का जीवन में कोई स्थान नहीं है। लेकिन जब दूसरे के साथ बुराई करते हैं, तब इस बात को उपयोग में नहीं लाते कि भले ही मेरे साथ कोई बुराई कर रहा है, पर क्या मुझे अधिकार है बुराई

करने का ? जबकि मैं जानता हूँ कि मेरे साथ कोई बुराई न करे। मिले हुए यानी प्रतीत होने वाले पर अपना अधिकार मानते हो, जबकि जानते हो कि उस पर अपना कोई अधिकार है नहीं। मैं जानता हूँ कि कोई अधिकार नहीं है। आप अच्छी तरह से जानते हैं कि मिला हुआ यानी प्रतीत होने वाला अपना नहीं है।

आप जानते हैं अच्छी तरह से कि जो शरीर आप देख रहे हैं, उस पर आपका अधिकार नहीं है, बिल्कुल अधिकार नहीं हैं। नहीं तो आप सोचिए। बड़े–बड़े वैज्ञानिक मौजूद हैं, चिकित्सक मौजूद हैं। भाई जी के शरीर की करुण कथा सुनिए, तो आपको पता चलेगा कि दिन–रात डाक्टर खड़े हुए हैं। शायद बहुत कम लोगों को इतनी सुविधाएँ मिलेगी। लेकिन क्या कर सके वे बेचारे ? कुछ नहीं कर सके। कोई अधिकार नहीं रहा। उन्होंने मना किया कि कोई दवा मत दो भाई। यदि दवा देना ही चाहते हो, तो ऐसी दवा दो कि मैं बेहोश हो जाऊँ। इतनी असह्य वेदना थी। तो भैया मेरे, आप अच्छी तरह जानते हो कि शरीर पर अपना कोई अधिकार नहीं है।

अब आप देखिए, अर्थ क्या लगाते हैं ? भूख लगी है। श्रीमती जी ने बढ़िया खाना पकाया, आदर पूर्वक बैठाया और आप खाने लगे। आप कहने लगे कि वाह ! हम शरीर के द्वारा भोजन करते हैं। अब आपने यह रवैया अख्त्यार कर लिया कि हम शरीर के द्वारा भजन करते हैं। जरा सी कड़ी बात कह दूँ, बुरा न मानें कोई भाई। आप कहते हैं कि हम शरीर के द्वारा सेवा करते हैं। बुराई–रहित हुए नहीं और सेवा हो गई ? स्मृति जगी नहीं और भजन हो गया ? कैसा भजन करते हो बाबू ? कैसी आप सेवा करते हैं ?

हाँ, सेवा की चर्चा करते हैं शरीर के द्वारा। भजन की चर्चा करते हैं शरीर के द्वारा। अभ्यास करते हैं शरीर के द्वारा। विश्वास भी नहीं हो पाता शरीर के द्वारा। इन्द्रियों के आधार पर, बुद्धि के आधार पर जो आप विश्वास करते हैं, उसमें विकल्प हो जाता है।

वह निर्विकल्प कभी नहीं होता। बहुत गम्भीरता से विचार करें।

इसलिए भैया, प्रभु–विश्वास आप अपने द्वारा कर सकते हैं। बुराई–रहित आप अपने द्वारा हो सकते हैं। शरीर पर और संसार पर आपका कोई अधिकार नहीं है, इस सत्य को आप अपने द्वारा स्वीकार कर सकते हैं। एक का नाम त्याग है, एक का नाम सेवा है और एक का नाम प्रेम है। सेवा–त्याग–प्रेम, यही मानवता है। इसी का नाम जीवन है। इसी का नाम पूर्णता है।

भैया, त्याग का अर्थ यही है कि आप इस बात को ठीक अनुभव करें ज्ञानपूर्वक कि संसार पर मेरा कोई अधिकार नहीं है, और मेरा कुछ नहीं है।

प्रश्न–महाराज जी ! क्षमा कीजिए। सेवा–त्याग–प्रेम के लिए क्या किसी करण की आवश्यकता नहीं है ?

उत्तर–बिल्कुल नहीं है। सेवा क्रिया नहीं है कि आपने पैर दबा दिया। यह सेवा नहीं है।

प्रश्न–तो क्या महाराज, अब तक हम उल्टा ही मानते थे ?

उत्तर–आप तो मानते ही नहीं है। हम कोई मना थोड़े ही करते हैं। मैं आपसे निवेदन करता हूँ, विवाद नहीं करता हूँ। मैं यह नहीं कहता कि जो आप मानते हैं, उसे मत मानियेगा। आप जरूर मानिये कि शरीर के द्वारा हम सेवा करते हैं, भजन करते हैं, प्रेम करते हैं। इसमें मेरा कोई नुकसान नहीं है। लेकिन हमारे जानते, सेवा का जो तत्त्व है, वह तो बुराई–रहित होना है। त्याग का जो तत्त्व है, वह तो अचाह होना है, निर्मम होना है, तादात्म्य–रहित होना है। आस्था का जो तत्त्व है, वह तो भगवान् से भिन्न किसी और के अस्तित्व को अस्वीकार करना है और केवल भगवान् के अस्तित्व को स्वीकार करना है। इसी से भगवत्–प्रेम का उदय होगा।

हाँ, उस प्रेम का उदय हो जाने पर उसका प्रभाव शरीर पर भी होता है, अन्तःकरण पर भी होता है। अरे, जहाँ प्रेमी बैठता है, उस

भूमि पर भी होता है। वह तो बहुत ऊँची बात है। सारा जीवन प्रेम तत्त्व से निर्मित हो सकता है। इसमें मुझे सन्देह नहीं है।

किन्तु मूल जो बात है कि भाई, हम जो जानते हैं, उसे स्वीकार क्यों नहीं करते ? जो मानते हैं, उसमें दृढ़ता क्यों नहीं रखते ? आप जानते हैं कि मेरे साथ कोई बुराई न करे, मुझे बुरा न समझे। हमारे पास रात ही एक पत्र आया है, जिसमें किसी ने किसी को बुरा समझा। कोई बात हो गई होगी। वह अब बुरा है कि नहीं, इसका पता ही नहीं। यदि वह बुरा है, तब भी हमें उसे बुरा समझने का अधिकार नहीं है। यही कारण है कि आज परस्पर में सही एकता नहीं दीखती। परस्पर में जो एकता है, वास्तव में उसका जीवन में बोध ही नहीं होता। अरे, एक ही परिवार में देवरानी–जिठानी, दोनों ही ईश्वर को मानने वालीं और दोनों में भिन्नता। चचा–भतीजे, दोनों साध्य को मानने वाले और दोनों में भिन्नता। ऐसी अनेक घटनाएँ हम आपको बता सकते हैं, आप देख सकते हैं।

देखिए, पहले हमारे जिन्ना साहब कहते थे–स्थूल रूप में कह दूँ आपके समझने के लिए–कि हमारा और हिन्दुओं का तमद्दुन नहीं मिलता, इसलिए एक जगह नहीं रह सकते। तमद्दुन माने, उनका अलग मजहब और रहन–सहन है, हमारा अलग मजहब और रहन–सहन है। एकसा नहीं है। इसलिए कैसे रह सकते हैं ? हम एक देश में नहीं रह सकते, एक साथ नहीं रह सकते। अरे भले आदमी, तुम मुसलमान, मुसलमान एक साथ नहीं रह सकते। पूर्वी बंगाल में क्या हो रहा है ? मुसलमान निर्दोष मुसलमान के ऊपर बम डाल रहे हैं, निहत्थों को मार रहे हैं। लाखों की संख्या में हत्या हो चुकी है। क्यों भाई, मुसलमान मुसलमान को क्यों मार रहा है ? सही अर्थ में जब तक आप यह स्वीकार नहीं करेंगे कि कोई मेरे साथ बुराई न करें, इसमें मैं स्वाधीन नहीं हूँ। पर मैं इस में पराधीन भी नहीं हूँ कि मैं किसी के साथ बुराई न करूँ। बुराई–रहित होना सेवा का मूल तत्त्व है।

जो संसार पर अपना अधिकार मानता है, उसे भय अवश्य होगा। वह भय किसी तरह नहीं मिट सकता। अगर हम अपना अधिकार संसार पर से हटालें, तो हम अभय हैं। भय हमेशा उसी को होता है, जिसके पास कुछ है। जिसके पास सब कुछ है, उसको भय नहीं होता। सब कुछ तो परमात्मा का ही नाम है, उसी में सब कुछ है। जिसके पास परमात्मा है, उसको भी भय नहीं होता। जिसके पास संसार का कुछ है, वह अभय नहीं होता, भयभीत रहता है। भय मिटाने का उपाय यह है कि ज्ञानपूर्वक अनुभव करो कि मेरा कुछ नहीं है और दृढ़तापूर्वक निर्णय करो कि मुझे कुछ नहीं चाहिए और आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक स्वीकार करो कि प्रभु अपने हैं और सब कुछ प्रभु का है। इससे भय मिट जाएगा। हाँ भाई, और कोई बात किसी के मन में उठती हो तो बतायें ?

प्रश्न—स्वामी जी ! मेरे को स्वप्न नहीं हो रहा है, तीन साल हो गये। क्या वजह है ?

उत्तर—यह सब क्या देख रहे हो ? यह जो देख रहे हो, वह सब स्वप्न ही है भैया। जाग्रत तो दूसरी चीज का ही नाम है।

प्रश्न—स्वामी जी ! जिसके पास में कोई भी चीज है, लेकिन उसमें उसका ममत्व न हो, तो क्या वह निर्भय होगा ?

उत्तर—नहीं, नहीं। अर्थ मत बदलो। सीधी बात कहो। जो यह अनुभव करता है कि संसार में मेरा कुछ है, वह कभी भी अभय नहीं होगा, उसे तो भय लगा ही रहेगा। जिसने यह स्वीकार कर लिया कि प्रभु मुझमें है, मेरा है, अभी है, उसको भय नहीं होगा। जिसके पास कुछ भी नहीं है, उसको भी भय नहीं होगा। क्योंकि उसके पास कुछ नहीं है और उसको कुछ चाहिए भी नहीं। जिसे कुछ नहीं चाहिए, उसे कहाँ से भय होगा ?

प्रश्न—महाराज जी ! यह सब समझते हुए, जानते हुए भी जीवन में यह बात क्यों नहीं आती ?

उत्तर–आपने यह मान लिया कि मैं समझता हूँ, मैं जानता हूँ। यहीं धोखा खा गये। आप मान बैठे हैं कि मैं जानता हूँ, कि मैं ब्रह्म हूँ, मैं आत्मा हूँ, मैं यह हूँ, कि मैं वह हूँ। मैंने बहुत पढ़–लिख लिया। सारी प्रक्रिया रट ली। नहीं तो महाराज, कितनी ही भूख लगी हो कितने ही सुन्दर रसगुल्ले हों पटना के, अगर आपको यह मालूम हो जाए कि इनमें विष लगा है, तो आप कभी नहीं खाएँगे, क्योंकि आप जानते हैं कि रसगुल्ला खाया कि मरे।

मैं क्या बताऊँ ? आधुनिक दार्शनिकों ने भी और प्राचीन दार्शनिकों ने भी इस सत्य को एक मत से स्वीकार किया है कि जब अविद्या नहीं रहती, तो दुःख नहीं रहता। यह प्राचीन दार्शनिकों की भाषा है। आधुनिक दार्शनिकों की भाषा है कि मनुष्य तभी तक बुराई करता है, जब तक सचमुच वह अपने द्वारा बुराई को बुराई करके नहीं जानता। यह तो है दार्शनिकों का मत। आपका प्रश्न बिल्कुल इसका उल्टा है कि मैं जानता हूँ, मैं समझता हूँ, पर यह बात जीवन में नहीं आती। यह तो इस स्कूल का तकिया कलाम है, जिसमें हम और आप बैठे हैं। वास्तव में यह प्रश्न गलत है। न आप जानते ही हैं, न आप समझते ही हैं। बुरा मत मानियेगा। जिसको आप जानना और समझना कहते हैं, वह तो सीखना है। आपने सीखा है, सुना है। न आपने जाना है, न समझा है।

सीखे हुए में और जीवन में तो फर्क हो सकता है। पर जाने हुए में और जीवन में फर्क नहीं होता कभी। फिर भी आप ऐसा मानते हैं तो मैं क्या करूँ ? मैंने तो इस प्रश्न का उत्तर इस पाठशाला में वर्षों से सैंकड़ों साधकों को दिया है कि स्वामी जी महाराज ! क्या बताएँ, बात समझ में आती है, पर जीवन में नहीं है। जहाँ आप यह जानते हैं कि बुराई करना अच्छा नहीं है, वहाँ आपको बुराई–जनित सुख भी पसन्द है। जहाँ आप जानते हैं कि बेईमानी नहीं करनी चाहिए, वहाँ आप यह भी पसन्द करते हैं कि बेईमानी से ही अगर धन आ जाए, तो आराम पायेंगे। इसको जानना थोड़े ही कहते हैं।

जानने का अर्थ यह है कि जब आप ठीक–ठीक जान लें कि सचमुच इतने बड़े संसार में मेरा कुछ है ही नहीं और मुझे कुछ नहीं चाहिए, तो आप में निर्विकारता आ जायेगी और शान्ति आ जायेगी। प्रभु अपने हैं, तो प्रियता आ जायेगी। ज्ञान के प्रकाश में यह स्पष्ट दिखाई देगा। पर आप ज्ञान के प्रकाश का आदर ही नहीं करते, इससे बुद्धि–दृष्टि का दुरुपयोग होता है। बुद्धि एक दृष्टि है, उसमें स्वतः ज्ञान नहीं है। ऐसे ही इन्द्रिय भी एक दृष्टि है, इन्द्रिय को स्वतः ज्ञान नहीं है। आपके पास दोनों दृष्टियाँ मौजूद हैं। आपको इन्द्रिय–दृष्टि भी प्राप्त है और बुद्धि–दृष्टि भी प्राप्त है। बुद्धि–दृष्टि का प्रभाव कब होगा ? जब इन्द्रिय–दृष्टि का प्रभाव नहीं रहेगा। इन्द्रिय–दृष्टि का उपयोग तो होगा, पर उसका प्रभाव नहीं रहेगा। बुद्धि–दृष्टि का प्रभाव क्यों नहीं होता ? इसलिए नहीं होता कि आप इन्द्रिय–दृष्टि के प्रभाव को पसन्द करते हैं। आप मन पर लांछन लगाते हैं। मन बेचारे का कोई अपराध नहीं है।

परमात्मा का सम्बन्ध संसार के सम्बन्ध का नाश कर देता है। यह है विधान। पर आप परमात्मा से सम्बन्ध स्वीकार करते ही नहीं। आप संसार से सम्बन्ध स्वीकार करते हो और परमात्मा की चर्चा करते हो। तो चर्चा में आने वाला परमात्मा बिना सम्बन्ध के कैसे प्यारा लगेगा ? यह कठिनाई हो जाती है। जब चाहो तब, आपको मस्ती आ सकती है, आप निर्द्वन्द्व हो सकते हैं। आपको जन्मजात अधिकार है चिरशान्ति का, जीवन–मुक्ति का, परम प्रेम का। आपके इस अधिकार को कोई छीन नहीं सकता। आप ही अपने अधिकार को छोड़ दें, तो हम क्या करें ?

आज तक कोई भी यह सिद्ध नहीं कर सका कि संसार पर मेरा स्वतन्त्र अधिकार है। है ही नहीं, हो सकता नहीं, होगा नहीं। हमसे संसार का सम्बन्ध छोड़ा जाता नहीं और जो वास्तव में हमारा सम्बन्धी है, उसे हम पसन्द करते ही नहीं। हम स्वयं परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करें, परमात्मा के महत्त्व को स्वीकार करें।

उसमें न शरीर की सहायता की जरूरत, न इन्द्रियों की सहायता की जरूरत, न मन–बुद्धि आदि की सहायता की जरूरत।

आप विचार करके देखो, बुद्धि तो एक भौतिक तत्त्व है, प्राकृतिक है। तो प्राकृतिक तत्त्व के द्वारा परमात्मा मिल जाता, तो हाथ–पैर से भी परमात्मा पकड़ लिया जाता। यदि हाथ–पैर से पकड़ लिया जाता, तो इन्द्रियों से भी पकड़ लिया जाता, क्योंकि इन्द्रियाँ प्राकृतिक तत्त्व हैं। तो क्या मन–बुद्धि से परमात्मा पकड़ा जा सकता है ? परमात्मा पकड़ा जाता है अपने द्वारा, जहाँ बुद्धि की पहुँच ही नहीं है। 'मैं' तक बुद्धि नहीं पहुँचती। 'यह' तक बुद्धि रहती है। 'मैं' का और परमात्मा का सम्बन्ध है। 'मैं' का और 'है' का सम्बन्ध है। 'यह' का और परमात्मा का सम्बन्ध इस रूप में नहीं है कि आप 'यह' के द्वारा परमात्मा को प्राप्त कर लें। हाँ, 'यह' के द्वारा आप संसार की सेवा कर सकते हैं।

देखो, यहाँ के धर्म प्रिय महानुभावों ने जंगल में मंगल कर दिया। जैसे लोग कलकत्ता, बम्बई में रहते हैं, वैसे ही यहाँ लोग रह रहे हैं। यह तो आप इन्द्रियों के द्वारा कर सकते हैं। लेकिन इन्द्रियों की सहायता से परमात्मा को अपना मान सकते हैं, यह बिल्कुल गलत बात है। इस दृष्टि से महानुभाव विचार करें, तो आपको लाभ जरूर होगा। आप हिम्मत मत हारिए, निराश मत हो जाइये। अपने द्वारा करने वाली बात शरीर से मत कीजिए। बस, इतना ही निवेदन है।

प्रश्न–स्वामी जी, क्या परमात्मा के सम्बन्ध में हमने गलत सोचा है ?

उत्तर–मेरी बात तो सुनी ही नहीं। मैं कहता हूँ कि सोचने–समझने से परमात्मा का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। तुमसे परमात्मा का सम्बन्ध है। तुम जिस बुद्धि के द्वारा संसार में कामयाब हुए, सफल हुए, संसार की दी हुई उसी बुद्धि के द्वारा तुम परमात्मा को पाना चाहते हो। यह कैसे हो सकता है ? अरे बाबा ! बुद्धि का सहारा छोड़ो, शरीर का सहारा छोड़ो, संसार का सहारा छोड़ो

परमात्मा से मिलने के लिए। मैं धन की निन्दा नहीं करता, मैं तन की निन्दा नहीं करता, मैं बुद्धि की निन्दा नहीं करता। पर जिस तन से, धन से, बुद्धि से आप संसार में भले आदमी कहलाये, उसी तन–बुद्धि आदि से आप परमात्मा के प्रेमी हो जाएँ, यह सम्भव नहीं है। किसी काल में सम्भव नहीं है, किसी प्रकार सम्भव नहीं है। यह स्पष्ट बात है। आप लोग तो पुराने सत्संगी हैं। आप सब जानते–बूझते हैं। आपकी हाँ में हाँ मिलाकर मैं अपना भी नुकसान करूँ और आपको भी नुकसान हो, इससे क्या फायदा होगा ?

प्रश्न–स्वामी जी, इसके लिए ठीक–ठीक प्रक्रिया क्या है ?

उत्तर–यही प्रक्रिया है कि आप अपने द्वारा परमात्मा को पाने का प्रयास करें। इतना विश्वास रखें कि मुझे परमात्मा से मिलने के लिए न शरीर की जरूरत है, न इन्द्रियों की, न मन की, न बुद्धि की। जो परमात्मा शरीर के द्वारा मिलेगा, मन के द्वारा मिलेगा, बुद्धि के द्वारा मिलेगा, वह यन्त्र के द्वारा भी मिलेगा। क्योंकि शरीर के द्वारा जो काम करते हो, वह यन्त्र के द्वारा भी होता है सरकार। परन्तु परमात्मा आपको अपने द्वारा मिलेगा। यह मुझे भी मिलेगा, आपको भी मिलेगा, जितने भाई–बहन बैठे हैं सबको मिलेगा। क्योंकि परमात्मा कहते ही उसको हैं, जो सबको मिले। उसका नाम परमात्मा नहीं है, जो किसी को मिले, किसी को न मिले। वह परमात्मा नहीं होगा।

तो आप अपने द्वारा परमात्मा को पसन्द कीजिए, अपने द्वारा परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार कीजिए। आपको परमात्मा जरूर मिल जायेगा, भैया ! जरूर मिल जायेगा। परमात्मा आपका अपना है। उसका स्वभाव नहीं बदला है, वह नहीं बदला है, उसकी महिमा नहीं घटी है भैया।।ॐ।।

४० (ब)

प्रवचन् :

मीराजी के चरित्र में देखिए। वे कहती हैं,–"कृपा रावरै कीजै, साजन, ज्यों जानें, त्यों सुधि लीजै।" यहाँ उनका संसार का त्याग है, साधन के अभिमान का त्याग है, अपने अधिकार का त्याग है। आगे कहती हैं कि मेरा कोई अधिकार ही नहीं है। आप जैसे चाहें, मेरी सुधि लें। मेरा कोई और नहीं है। तो साधन के अभिमान का भी त्याग। वे श्रीकृष्ण की नित्य प्रिया हैं। उन्होंने गोपियों की भाँति परकीया भाव की बात पसन्द की। परकीया भाव में विशेष त्याग है। परकीया अपने पति पर अपना कोई अधिकार नहीं मानती। स्वकीया अपने पति पर अपना अधिकार मानती है, जैसे, रुक्मिणी जी।

मालूम होता है कि मीराजी इस युग की गोपी हैं। तभी वे कहती हैं कि मेरा कोई अधिकार नहीं है। आप जैसे चाहें, मेरी सुधि लें। यह आत्मीय सम्बन्ध की विलक्षणता है। वे कहती हैं कि मेरा कोई और नहीं हैं। दिन में मुझे भूख नहीं लगती, रात में नींद नहीं आती। इसका अर्थ क्या है ? मीराजी प्राण–धर्म से ऊपर उठ गईं। भूख लगना प्राण–धर्म है। नींद आना कारण शरीर का धर्म है। वे कारण शरीर से भी ऊपर उठ गईं।

अब देखिए। उसके बाद तुरन्त कहती हैं कि यह तन पल–पल छीज रहा है। क्या हो रहा है ? क्या छीज रहा है ? यह जो गुणमयी माया से रचा हुआ शरीर था, वह अब प्रेम तत्त्व में विलीन हो रहा है, प्रेम से निर्मित हो रहा है। यानी गुणमयी माया का प्रभाव नाश हो रहा है और भगवान् की जो योग माया है, उसका प्रवेश हो रहा है। तन पल–पल छीजै का अर्थ मुझे यही मालूम होता है कि मीराजी गुणातीत हो गई हैं, देहातीत हो गई हैं।

इसके बाद उन्होंने कहा कि "मीरा के प्रभु गिरधर नागर, मिल

बिछुड़न नहिं कीजै।'' यानी आप मुझे मिल गये, अब वियोग न हो। यह उनका अन्तिम वाक्य है। सुनते हैं कि फिर किसी ने उनके भौतिक शरीर को नहीं देखा। उनके तानपूरा के तार में से, मन्दिर की दीवारों में से, श्रीविग्रह में से ''मिल बिछुड़न नहिं कीजै, मिल बिछुड़न नहिं कीजै, मिल बिछुड़न नहिं कीजै''–यह ध्वनि बहुत देर तक होती रही। किसी इतिहासकार ने यह नहीं कहा कि मीरा जी का अन्त्येष्टि संस्कार हुआ था द्वारिकापुरी में। ऐसा किसी ने नहीं कहा। उनका भौतिक शरीर भी प्रेम तत्त्व में विलीन होकर अपने प्रेमास्पद से अभिन्न हो गया। इसमें त्याग का भी दर्शन है, अनुराग का भी दर्शन है, योग का भी दर्शन है, बोध का भी दर्शन है। सभी बातें आ गईं। बोध भी है, योग भी है, अनुराग भी है और त्याग भी है। यह भक्तिमती मीराजी का अन्तिम पद है। खोज करने वाले लोग इसको आखिरी पद बताते हैं।

इससे यह स्पष्ट ही है कि भक्त एक मात्र प्रभु को ही अपना स्वीकार करता है। वह यह अच्छी तरह जानता है कि मेरा कोई और नहीं है और यह भलीभाँति मानता है कि प्रभु मेरे हैं। एक बात जानने की और एक बात मानने की है। मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए–यह बात जानने की है, मानने की नहीं। प्रभु मेरे अपने हैं–यह मानने की है, जानने की नहीं। जानने से पराधीनता की, सर्व दुःखों की, अशान्ति की निवृत्ति होती है। मानने से अखण्ड स्मृति की, अगाध प्रियता की प्राप्ति होती है। यह साधकों का अनुभव है। यह जीवन का सत्य है।

प्रत्येक मनुष्य में दोनों प्रकार की शक्तियाँ हैं, जानने की भी है और मानने की भी है। एक जो स्थूल शक्ति है करने की, यह भगवत् नाते कर्म करने की है, वर्तमान कर्म करने की है। इसको भक्त लोग पूजा कहते हैं। कुछ लोग इसको कर्त्तव्य कहते हैं। कुछ लोग इसको धर्म कहते हैं। कर्त्तव्य का जो उत्तर पक्ष है, धर्म का जो उत्तर पक्ष है, वह योग है। कर्त्तव्य–पालन से मानव राग–रहित होता है, विद्यमान

राग की निवृत्ति हो जाती है। कर्त्तव्य का दूसरा अंग है, अपने अधिकार का त्याग। उससे नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। तो विद्यमान राग निवृत्त हो जाता है और नवीन राग की उत्पत्ति नहीं होती। राग में जब बाधा पड़ती है, तभी क्रोध उत्पन्न होता है। इस तरह क्रोध भी उत्पन्न नहीं होता। राग और क्रोध से रहित होने से योग की प्राप्ति होती है।

राग और क्रोध से रहित होने से योग की प्राप्ति हुई। अधिकार छोड़ने से और अधिकार देने से मनुष्य फ्री हो जाता है, स्वतन्त्र हो जाता है, स्वाधीन हो जाता है। अधिकार देने से भी स्वाधीन हो जाता है, और अधिकार छोड़ने से भी स्वाधीन हो जाता है। फिर उसका संसार से सम्बन्ध रहता ही नहीं। क्योंकि जिसका देना था देदिया, लेना था सो छोड़ दिया। फिर सम्बन्ध क्यों रहेगा ? नहीं रहना चाहिए। इसलिए वह जीवन–मुक्त हो जाता है। वैसे देखा जाए वैज्ञानिक दृष्टि से, तो कर्त्तव्य के अन्त में योग की प्राप्ति हो जाती है। योग माने, अपने में अपना जो प्रियतम है, उसके साथ मिलन, एकता, समीपता, अभिन्नता।

मिलन की तीन सीढ़ियाँ हैं—पहली सीढ़ी है समीपता, दूसरी है एकता और तीसरी है अभिन्नता। इसलिए पहली सीढ़ी को योग कहते हैं। दूसरी को बोध और तीसरी को प्रेम कहते हैं। मानव–जीवन के विकास की चरम सीमा योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति में है और भोग, मोह, आसक्ति की निवृत्ति में है। इसी का मूर्तिमान चित्र भक्तिमती मीराजी का जीवन है। उन्हें योग, बोध, प्रेम प्राप्त हो गया। यह अविनाशी तत्त्व हैं—योग, बोध, प्रेम। यह प्रभु की ही महिमा हैं। योग भी प्रभु की महिमा है, बोध भी प्रभु की महिमा है और प्रेम भी प्रभु की महिमा है, स्वभाव है। उसी से मीराजी अभिन्न हो गईं। इन्हीं तीनों का नाम राधातत्त्व भी है, सीतातत्त्व भी है, गौरी तत्त्व भी है। अनन्त की प्रीति राधातत्त्व से, सीतातत्त्व से, गौरीतत्त्व से अभिन्न होकर अनन्त परमात्मा के साथ अभिन्न हो जाती है। ऐसा प्रेमियों का मत है।

बोध माने, ज्ञान। योग, बोध, प्रेम। यानी उस परमात्मा के साथ एकता–बोध, समीपता–योग, अभिन्नता–प्रेम। ज्ञान तो प्रकाश है। भक्ति एक रस है। योग एक सामर्थ्य है। यही तीनों सबको चाहिए। सामर्थ्य भी चाहिए, ज्ञान का प्रकाश भी चाहिए, प्रेम का रस भी चाहिए। यही मनुष्य की माँग है। ज्ञान के बिना कोई स्वाधीन हो ही नहीं सकता। स्वाधीन हुए बिना प्रेमी कैसे होगा, उदार कैसे होगा ? पराधीन तो प्रेमी होते नहीं, उदार होते नहीं।

वैसे अगर देखा जाए, तो मनुष्य की जो माँग है, उसी तरह का भगवान् का वर्णन भी है। भगवान् को लोग कहते हैं कि वे परम उदार हैं, परम प्रेम से परिपूर्ण हैं, रस से परिपूर्ण हैं, अविनाशी हैं, स्वतन्त्र हैं। परमात्मा अविनाशी है, तो मनुष्य को अविनाशी जीवन चाहिए। परमात्मा स्वाधीन है, तो मनुष्य को स्वाधीनता चाहिए। परमात्मा परम उदार परम प्रेम से भरपूर हैं, तो प्रत्येक मनुष्य को उदारता और प्रेम भी चाहिए। तो जो परमात्मा की महिमा बताई जाती है, जो परमात्मा के विशेषण बताये जाते हैं, उन्हीं की माँग मनुष्य को होती है।

यह माँग संसार के द्वारा पूरी हो नहीं सकती, न किसी वस्तु से, न किसी योग्यता से, न किसी सामर्थ्य से। इसीलिए यह बात कही जाती है कि भाई, प्रभु को अपना मानो, प्रभु को पसन्द करो, प्रभु के होकर रहो। तभी यह माँग पूरी हो जायेगी। किसी भी सामर्थ्य के द्वारा, योग्यता के द्वारा, वस्तु के द्वारा मनुष्य स्वाधीन नहीं हो सकता, अविनाशी जीवन नहीं पा सकता, रसरूप जीवन नहीं पा सकता। जगत् से परे, देह से अतीत अविनाशी जीवन है, स्वाधीन जीवन है, रसरूप जीवन है। विवेकीजन उसको देहातीत जीवन कहते हैं, प्रेमीजन उसको भगवत् प्राप्ति का जीवन कहते हैं।

प्रेम के जगने से पहले विश्वास होता है। जिसको अपना माना था, उसमें जब प्रियता उदय हो गई, तब दूरी, भेद, भिन्नता रहती ही नहीं। मानना सदैव मानना ही रह जाए, ऐसा नहीं होता। जिसको

माना था, वह प्राप्त हो जाता है। मानव के व्यक्तित्व का विकास तीन ही रूपों में हो सकता है–योग के रूप में, बोध के रूप में और प्रेम के रूप में।

योग कर्त्तव्यपरायणता से भी प्राप्त होता है, असंगता से भी प्राप्त होता है और आत्मीयता से भी प्राप्त होता है। विश्वासियों का योग होता है आत्मीयता से, विवेकियों का होता है असंगता से और भौतिकवादियों का होता है कर्त्तव्य–परायणता से। कर्त्तव्यपरायणता से भी मनुष्य रागरहित होकर फ्री या स्वाधीन हो जाता है। असंगता से भी और आत्मीयता से भी स्वाधीन हो जाता है।

आप व्यवहार में भी देखते हैं कि लड़की की शादी हो गई जिस लड़के के साथ, तो वह उसका पति है और लड़की उसकी पत्नी है। लड़के और लड़की के बीच पति–पत्नी का सम्बन्ध हो गया। इसमें पहले आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार किया कि अपने हैं। यही योग कहलाता है। ऐसे ही परमात्मा के साथ आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार किया, तो प्रभु से योग हो गया। प्रभु अपने हैं, यही विश्वासियों का योग है। शरीर, संसार, कर्म, चिन्तन और स्थिति से असंगता ज्ञान के द्वारा योग है। कर्त्तव्यपरायणता के बाद जब संसार से सम्बन्ध नहीं रहा, तब भी योग है।

इन तीनों प्रकार से संसार के सम्बन्ध का नाश है। भगवान् को मानकर चलो तो, ज्ञान के प्रकाश को अपनाओ तो और कर्त्तव्य का पालन करो तो। तात्पर्य कहने का यह हुआ कि संसार के सम्बन्ध का जो त्याग है, इसी का नाम योग है। ऐसी कोई तीसरी चीज बीच में नहीं है, जो संसार के सम्बन्ध को तोड़ने पर परमात्मा और अपने बीच में दूरी या फासला पैदा कर सके। जहाँ संसार के सम्बन्ध का त्याग हुआ कि परमात्मा के साथ योग हो गया, चाहे प्रियता को लेकर, चाहे बोध को लेकर और चाहे समीपता को लेकर। योग तो तीनों का फल है।

योग माने, जहाँ, सब साधनों की एकता हो जाए। चाहे आप

कर्त्तव्यनिष्ठा को लेकर चलें, चाहे आप असंगता को लेकर चलें, चाहे आप आत्मीयता को लेकर चलें और चाहे आप तीनों को मिलाकर चलें। कर्त्तव्यपरायणता असंगता के साथ भी है और आत्मीयता के साथ भी है। ऐसे ही असंगता आत्मीयता के साथ भी है यानी आत्मीयता में भी असंगता है। क्योंकि किसी की असंगता से ही किसी की आत्मीयता हुई। संग–रहित तो किसी ने अपने को देखा ही नहीं। यानी किसी ने अपने को संग–रहित नहीं देखा। तो आत्मीयता भी असंग होकर ही प्राप्त होती है, स्वाधीनता भी असंग होकर प्राप्त होती है और विश्राम भी असंगता से ही प्राप्त होता है। चाहे असंगता कहो और चाहे संसार के सम्बन्ध का विच्छेद कहो, एक ही बात है। भाषा में भेद है। वास्तव में बात एक ही है।

कोई कहता है कि मैंने संसार से सम्बन्ध तोड़ दिया और कोई कहता है कि मैं संसार से असंग हो गया। कोई कहता है कि मैंने भगवान् से सम्बन्ध जोड़ लिया। फर्क क्या हुआ ? अरे, भगवान् से सम्बन्ध जोड़ लिया, तब भी संसार से सम्बन्ध नहीं रहा और संसार से असंग हो गये, तब भी संसार से सम्बन्ध नहीं रहा। और भैया, जो देना था सो दे दिया और जो लेना था सो छोड़ दिया, तब भी संसार से सम्बन्ध नहीं रहा।

तो कर्त्तव्यपरायणता से भी संसार के सम्बन्ध का त्याग हो जाता है, असंगता से भी संसार के सम्बन्ध का त्याग हो जाता है और आत्मीयता से भी संसार के सम्बन्ध का त्याग हो जाता है। संसार के सम्बन्ध का त्याग तो तीनों प्रकार से हुआ। अतः तीनों प्रकार से योग की प्राप्ति हुई।

जब योग की प्राप्ति हो जाती है, तो योग की पूर्णता में बोध और बोध की पूर्णता में प्रेम स्वतः सिद्ध है। जिज्ञासु के लिए बोध मुख्य है और भक्त के लिए प्रेम मुख्य है। जो बीच का मध्यम श्रेणी का साधक है, उसके लिए योग मुख्य है। तीनों दृष्टियों से तीनों प्रकार के साधकों के लिए एक–न–एक मुख्य है। लेकिन एक मुख्य

होते हुए भी शेष दोनों भी उसमें सम्मिलित हैं। जैसे, पहले बोध हो गया, तो पीछे प्रेम और योग होगा। योग पहले हो गया, तो पीछे बोध और प्रेम होगा। प्रेम पहले हो गया, तो पीछे बोध और योग भी होगा। क्योंकि जीवन एक है।

बोध माने, जो सत्य है, उसकी प्राप्ति। सत्य की प्राप्ति कहो, चाहे बोध कहो। अपने को शरीर मानना बोध नहीं; भूल है, प्रमाद है। इस प्रमाद की निवृत्ति का नाम बोध है। बोध माने, भूल–रहित होना। सत्–असत् का निर्णय होना विवेक है, बोध नहीं। शब्दों के जाल में मत खेलो यार। असलियत को पकड़ो। शब्दों के जाल में फँसा, सो फँसा। देखो, संसार का जो सम्बन्ध है, उसे तोड़ने मात्र से ही योग की भी प्राप्ति हो जाती है, बोध की भी प्राप्ति हो जाती है और प्रेम की भी प्राप्ति हो जाती है।

जहाँ संसार का सम्बन्ध टूट जाता है, वहाँ परमात्मा के साथ समीपता भी होती है, एकता भी होती है और अभिन्नता भी होती है। संसार से सम्बन्ध तोड़ना साधन है। इसी से आपको निर्विकारता प्राप्त होगी, जीवन–मुक्ति प्राप्त होगी, चिर शान्ति प्राप्त होगी और भगवत् प्रेम की प्राप्ति होगी। ऐसा सोचिये कि संसार की सहायता के बिना अगर आपको अपने जीवन का बोध हो जाए, तो आप अमर हो गये। संसार की सहायता से जब तक जीवन मालूम होता है, तब तक तो मृत्यु के ही क्षेत्र में रहते हैं। शरीर के रहने का नाम जीवन नहीं है। शरीर तो बदलता ही रहता है, उसके जन्म और मरण का क्रम चलता ही रहता है। इसको जीवन नहीं कहते।

शरीर से सम्बन्ध टूटने के बाद जीवन की प्राप्ति होती है। अगर आप यह अनुभव करें कि बिना शरीर के भी मेरा अस्तित्व है, तो आप मुक्त हो गये। यदि आपने परमात्मा का अस्तित्व मान लिया, तो आप भक्त हो गये। अपना अस्तित्व स्वीकार किया, तो मुक्त हो गये। मुझे कुछ नहीं चाहिए, तो शान्त हो गये और मेरा कुछ नहीं है, तो निर्विकार हो गये।

प्रश्न–स्वामी जी ! अपना मन स्थिर कैसे हो ?

उत्तर–जब तक आपका अपना मन है, तब तक कभी भी स्थिर नहीं होगा। भगवान् को आप अपना मान लें, तो आपका मन भगवान् में विलीन हो सकता है। हम मन को अपना मान कर कभी स्थिर नहीं कर सके और न कोई कर सकता है, कहते ही रहते हैं। मन को बलपूर्वक लगाते रहते हैं और अपने आप हटता रहता है, बलपूर्वक हटाते रहते हैं और अपने आप लगता रहता है। यह द्वन्द्व रहता है।

संसार के सम्बन्ध का जो प्रभाव है, सच पूछो तो उसी का नाम मन है। मन कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। यह संसार के सम्बन्ध का प्रभाव है। यानी संसार का जब आकर्षण होता है, तभी मालूम होता है कि हमारे पास मन है। जब चाहते हैं कि यह मिल जाए या वह हो जाए, तब मन का भास होता है। अगर संसार के सम्बन्ध का नाश हो जाए, तो मन का नाश हो जाता है।

ऐसे ही परमात्मा के सम्बन्ध के प्रभाव का नाम ही साधना है। साधना और कुछ नहीं। परमात्मा के सम्बन्ध का जो प्रभाव जीवन में आ जाता है, उसी को साधन कहते हैं।

प्रश्न–स्वामी जी ! संसार के सम्बन्ध का सुख–भोग प्यारा लगता है। फिर सुख–भोग के आकर्षण का त्याग कैसे हो ?

उत्तर–हाँ–हाँ बड़ा अच्छा है। भोग भी करो और योग भी चाहो। बढ़िया बात है। दोनों साथ–साथ चल जाएँ, तो चलाओ। पर भोग और संसार के सम्बन्ध को तोड़ना एक साथ होता नहीं कभी। इसलिए सुख–भोग के आकर्षण का त्याग करो। योग से भोग की रुचि का नाश होगा। बिना योग के भोग की रुचि का नाश नहीं होता और बिना भोग की रुचि के नाश के योग नहीं होता।

भोग का अर्थ क्या है ? पराधीनता में ही जीवन है। सुख सुरक्षित बना रहे। बढ़िया भूख लगती रहे और रुचिकर भोजन

मिलता रहे और खाने की शक्ति भी बनी रहे। यह हुआ भोग। ऐसा भी होता है कि भूख लगी है और रोग के कारण खा नहीं सकते। एक बेचारी महिला थी। उसको गले की टी० बी० हो गई थी। उसे प्यास लगती थी, परन्तु पानी निगल नहीं पाती थी। डाक्टरों ने कहा कि गले में छेद करके पानी डाला जा सकता है। इसके लिए वह तैयार नहीं हुई।

मेरे कहने का मतलब यह है कि अभी तो हम लोग सहज और सावधान हैं और हम में इतनी सामर्थ्य है कि विश्वास पूर्वक प्रभु को अपना मान लें और ज्ञानपूर्वक संसार का सम्बन्ध तोड़दें। यह काम वर्तमान में करने का है, शीघ्रातिशीघ्र करने का है, देर करने का नहीं है। देर करने पर पता नहीं, क्या हो जाए। चेतना ही नाश हो जाये, दिमाग ही खराब हो जाए। क्या पता? इसलिए यह अनुभूति शीघ्रातिशीघ्र करनी चाहिए कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, प्रभु मेरे अपने हैं और सब कुछ प्रभु का है। चाहे यह मानकर चलो कि प्रभु मेरे अपने हैं और सब कुछ प्रभु का है। और चाहे यह जानकर चलो कि मेरा कुछ नहीं है और मुझे कुछ नहीं चाहिए। चाहे चारों को मिलाकर चलो।

प्रश्न–स्वामी जी ! भगवान् से सम्बन्ध और स्मृति कैसे हो ?

उत्तर–इसकी कोई टेक्नीक नहीं है, प्रक्रिया नहीं है। मनुष्य को स्वाधीनता पूर्वक सोचना चाहिए कि हमारे जीवन में भगवान् का प्रश्न क्यों उत्पन्न हुआ ? तो यह मानना ही पड़ेगा कि हमारी कोई ऐसी माँग जरूर है, जिसे हम अपने द्वारा पूरी नहीं कर सके अथवा संसार के द्वारा पूरी नहीं हो सकी। अगर यह बात ठीक है, तो वह कौन सी माँग है कि जिसको हम संसार के द्वारा पूरी नहीं कर सकते, अपने द्वारा पूरी नहीं कर सकते ? इस पर थोड़ा मनन कर लिया जाए, विचार कर लिया जाए। तब भगवान् के साथ सम्बन्ध जोड़ना बहुत सुगम हो जायेगा। क्योंकि अपनी जरूरत होने पर जिससे हमारी जरूरत पूरी होती है, उससे सम्बन्ध जोड़ना कठिन

होता ही नहीं, अस्वाभाविक होता ही नहीं, स्वाभाविक और सहज हो जाता है।

ऐसी कौन सी आवश्यकता अनुभव होती है, जिसके लिए आप भगवान् की आवश्यकता अनुभव करते हैं ? बताओ जरा। मन में उठे वही बताना। सीखकर, सोचकर नहीं। क्योंकि भगवान् को सरलता बहुत प्यारी है। चतुराई मत करना। अगर तुम अपने को भगवान् का पुत्र मानते हो, तो पिता की तो विस्मृति कभी होती नहीं। अरे, मरे हुए की विस्मृति नहीं होती, जिन्दा की तो कौन कहे।

श्रोता–दुःखों की निवृत्ति के लिए और परमसुख पाने के लिए भगवान् की आवश्यकता अनुभव होती है।

स्वामी जी–दुःखों की निवृत्ति तो भगवान् को बिना माने भी हो सकती है। आप निष्काम हो जाएँ, आपके दुःखों की निवृत्ति हो जायेगी। परम सुख पाने के लिए आप देखेंगे कि जब आपके दुःखों की निवृत्ति हो जायेगी, तब अपने आप आपको परम सुख प्राप्त हो जायेगा। यहाँ तक तो ईश्वरवाद की आवश्यकता नहीं है भाई मेरे। अभी तक तो आप अपने ही लिए सोच रहे हैं।

श्रोता–आश्रय बिना हम नहीं रह सकते।

स्वामी जी–बिना आश्रय के नहीं रह सकते, तो हरि–आश्रय की विस्मृति भी नहीं होती। आप तो कहते हैं कि स्मृति कैसे हो ? मैं कहता हूँ कि आप उन्हीं बातों को स्वयं स्वीकार नहीं करते, जिन्हें आप जानते हो। यही तो जीवन में कठिनाई है। आप विचार कीजिए, बहुत जरूरी बात है। देखिए, हमारे पास देवकी जी आईं। हमने उनसे पूछा कि तुम क्या चाहती हो ? तो उन्होंने बड़ी सरलता से, सच्चे ढंग से, ईमानदारी से कह दिया कि इतने बड़े संसार में मुझे कोई अपना करके मालूम नहीं होता। दूसरी बात उन्होंने कही कि मैंने सोचा था कि जब मैं पढ़–लिख जाऊँगी, स्वावलम्बी हो जाऊँगी, सदाचारी बनी रहूँगी, तो मेरी माँग पूरी हो जाएगी।

पढ़–लिख भी लिया, सदाचारी भी बनी रही, समाज में सम्मान भी मिल गया, रोटी की सुविधा भी हो गई। पर मेरी माँग पूरी नहीं हुई। अब भी अभाव का अनुभव करती हूँ। मुझे कोई अपना चाहिए।

वे अनीश्वरवादी नहीं थीं। लेकिन ईश्वरवादी होते हुए ईश्वर से विद्रोह करती थीं कि तुमने मुझे क्यों बनाया ? मैं कहाँ तुमसे कहने गई थी कि तुम मुझे बनाओ ? जब मुझे बनाया, तो मैं जो चाहती हूँ वह होता क्यों नहीं ? इस तरह ईश्वर से वे विद्रोह रखती थीं। वे मनोविज्ञान की पण्डिता हैं। वे कहने लगीं कि मैं एक दिन अस्पताल गई, तो मैंने एक गरीब को भयंकर दुःख में पड़े देखा। वह बहुत संकट में था। मुझे वहाँ भी क्षोभ हुआ कि हे सृष्टि के रचने वाले ! तू कैसा करुणामय है कि जो तेरी सृष्टि में इतना दुःख है ? इस तरह उनके जीवन पर दुःख का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। पढ़–लिखकर भी तृप्ति नहीं हुई, रोटी कमाने पर भी तृप्ति नहीं हुई, समाज में स्थान पाकर भी तृप्ति नहीं हुई। उनको अपना कोई चाहिए।

तब मैंने उनसे कहा कि एक तो ऐसा है। तो बोलीं कि मुझे उस पर विश्वास नहीं होता। हमने कहा कि देखो, वे हमारे मित्र हैं। हम भी उनसे प्रार्थना करेंगे। तुम एक दफा यह कह दो कि तुम मुझे अपना विश्वास दे दो। मैं आपसे क्या कहूँ, प्रभु की महिमा ! वही देवकी जी आज यों कहती हैं कि जब मैंने प्रभु को पसन्द कर लिया, तो उन्होंने अपनी करने वाली बात और मेरे करने वाली बात पूरी करदी।

मुझे तो आश्चर्य होता है कि आप भगवान् की बात निर्जीव हो कर करते हैं। इस पथ में निर्जीवता, नहीं चलती। मेरे लिए तो भगवान् ही हैं। यदि आप भगवान् को मानते हैं, तो वे अभी भी वैसे ही हैं, जैसे कभी थे। उनमें कोई परिवर्तन नहीं हो गया है, उनकी महिमा नहीं घटी है, वे बदले नहीं हैं। पर आप उन्हें पसन्द करते हैं क्या, चाहते हैं क्या ? मैं आपसे पूछता हूँ कि आप जिसको चाहते हैं

वह जब तक नहीं मिलता है, जब तक आपको चैन क्यों है ? आप चैन से रहते क्यों हैं ? अगर आपको चैन है, तो साफ जाहिर है कि आप भगवान् को चाहते नहीं हैं। नहीं तो, भगवान् के बिना मिले आपको चैन क्यों है ?

भले ही हमें विधि न मालूम हो, तरीका न मालूम हो। हम नहीं जानते हैं कि वे कैसे, कहाँ हैं। लेकिन जो बात हम चाहते हैं वह पूरी नहीं होती, तो आदमी चैन से रहता है क्या ? आप कैसे चैन से रहते हैं ? आपका भगवान् एक कल्पना है। वह आपकी अपनी जरूरत में नहीं है। आप ही सोचिये कि किसी का लड़का खो जाए, तो उसकी माँ के हृदय की क्या दशा होती है, कैसी तड़फती है ! क्या इतनी भी व्याकुलता आप में नहीं है ? क्या आप किसी भी चीज के लिए व्याकुल नहीं होते ? ऐसी बात नहीं है कि आपके जीवन में से व्याकुलता निकल गई हो। जिस बात को आप पसन्द करते हैं और पूरी नहीं होती, तो आप व्याकुल भी होते हैं, क्षोभित भी होते हैं। आप पूरी–पूरी कोशिश भी करते हैं।

तो मैं आपसे पूछना चाहता हूँ कि जो परमात्मा सदैव सभी का है, उस परमात्मा से आप दूर कैसे हो गये ? उसको आप भूल कैसे गए ? आप विचार कीजिए। आप यह जो सोचते हैं कि कोई तरीका बताएगा और उससे मुझे परमात्मा याद आ जाएगा। तो टैकनीक भी हमको मालूम है। हम चेला बनाना जानते हैं और बहुत से चेले बनाए हैं, तुमको भी बना सकते हैं। पर अब वह पेशा छोड़ दिया है, क्योंकि हमको लोग पकड़ लेते हैं और भगवान् को भूल जाते हैं।

आप लोग आँख खोल कर देख लें कि जिन लोगों ने ज्यादा भगवान् की बात सुनाई, उन सुनाने वालों को लोगों ने कसकर पकड़ लिया, भगवान् को नहीं पकड़ा। डूबने बाला बचाने वाले को भी डुबा देता है। आप भगवान् की बात ही क्यों करते हैं ? भगवान् क्या कोई खेती है कि आज बोयेंगे, तो कल उपजेगा और परसों मिलेगा ? क्या भगवान् कोई वृक्ष है जिसे आज लगाएँगे, तो बारह

वर्ष में फल लगेगा ? भगवान् ऐसी चीज नहीं है। भगवान् तो वर्तमान में भी ज्यों–का–त्यों मौजूद है। वह जैसा सत्युग में, वैसा ही त्रेतायुग में, वैसा ही द्वापर युग में और वैसा ही आज भी है। वह वैसा ही तुम्हारे लिए, वैसा ही हमारे लिए और वैसा ही वह सबके लिए है।

अगर आप अपने जीवन के साथ भगवान् को मिलाकर देखेंगे और उसे अपने जीवन की आवश्यकता मानेंगे, तो भगवान् आपको जरूर मिल जायेगा। इसमें कोई सन्देह की बात नहीं है। वह अभी भी मिलता है, पहले भी सभी को मिला है और सदैव मिलता है। भगवान् ने कभी किसी से मिलने से इन्कार नहीं किया और न कर सकता है। भला दुनियाँ का मालिक कैसे मिलने से इन्कार कर सकता है ? फिर तो अन्याय हो जायेगा। तुम ही भगवान् को भूल गये हो। भगवान् थोड़े ही भूल गये हैं तुमको ? भाई मेरे, भगवान् तो तुमको हर समय निरन्तर देख रहे हैं। तुम उनकी आँखों से ओझल नहीं हो, तुम उनकी सत्ता से बाहर नहीं हो। पर तुम तो उनकी ओर मुँह ही नहीं फेरते। तब कैसे काम चलेगा ?

देखिए, अगर कोई सर्व सुलभ है, तो उसका नाम भगवान् है। जो सबको सुलभ है, सदा के लिए सुलभ है, वह भगवान् है। फिर आपको क्यों नहीं मिलेगा भाई ? आप सोचिये, विचार करके देखिए। वस्तु के द्वारा जो चीज प्राप्त होती है, उसमें सब स्वाधीन नहीं हैं। योग्यता के द्वारा जो चीज प्राप्त होती है, वह भी सर्व सुलभ नहीं है। सामर्थ्य से जो चीज प्राप्त होती है, वह भी सर्व सुलभ नहीं है। क्योंकि वस्तु का भेद है, योग्यता का भेद है, सामर्थ्य का भेद है। सभी को समान रूप में प्राप्त नहीं हैं।

अगर परमात्मा वस्तुओं से प्राप्त होता, तो उसका नाम परमात्मा कभी नहीं होता। वह विश्वनाथ नहीं हो सकता, वह सर्व समर्थ नहीं हो सकता। वह अन्तर्यामी नहीं कहा जा सकता। उसे पतित पावन कोई नहीं कहता, यदि वह पतितों का न होता तो। भैया मेरे, अनन्त

उसी को कहा गया है, जो सभी का है, मानने वालों का भी है और न मानने वालों का भी। वह सभी का है समानरूप से। मैं तो आपसे कहता हूँ कि बात करना दुर्लभ है, पर भगवान् मिलना सुलभ है। रोटी मिलना दुर्लभ है, पानी पीना दुर्लभ है, स्वांस लेना दुर्लभ है; लेकिन भगवान् का मिलना सुलभ है। मैं दलील और युक्ति के साथ यह कहता हूँ।।ॐ।।

४१ (अ)

प्रवचन :

आप ही सोचिये कि यदि आपको कोई ईमानदार आदमी मिल जाए, तो आपको सुविधा होगी कि नहीं ? यदि आपको परिश्रमी आदमी मिल जाए, तो आपको सुविधा होगी कि नहीं ? यानी अपने लिए सभी लोग अच्छे आदमियों की आवश्यकता अनुभव करते हैं। एक सज्जन चाहते थे कि हमारा नौकर हमसे तो झूठ न बोले, पर हमारे कार्य की सिद्धि के लिए झूठ बोले। ऐसे लोग सबका हित नहीं चाहते। यदि सभी अच्छे हो जाएँ, तो जीवन में सभी को सुविधा हो जाए। जैसे, यदि सभी स्त्रियाँ पतिव्रता हो जाएँ, तो सभी पतियों को सुविधा हो जाए। इसी प्रकार सभी पुरुष पत्नीव्रत हो जाएँ, तो सभी स्त्रियों को सुविधा हो जाए। जितने शिष्य हैं वे सब गुरु–भक्त हो जाएँ, तो सभी गुरुजनों को सुविधा हो जाए और सभी गुरुजन समर्थ और आशीर्वाद देने वाले हो जाएँ, तो सभी शिष्यों को सुविधा हो जाए।

यह जो हम लोग सोचा करते हैं कि हमको छोड़कर सारा संसार अच्छा हो जाए। इसका असली मतलब है कि हम दूसरों के कर्त्तव्य से, दूसरों की उदारता से, दूसरों की क्षमाशीलता से, दूसरों की त्याग भावना से सुख–सम्पादन करना चाहते हैं। यही सबसे बड़ा असाधन है। यह सोचने लगते हैं कि भाई, हमको सुख मिले, हमारा विकास हो ! किन्तु हमारे ऊपर भी किसी दूसरे के सुख का, किसी दूसरे के हित का दायित्व है, इसे हम भूल जाते हैं।

आज भक्त को भगवान् क्यों नहीं मिलता ? इसलिए कि भक्त भी अपनी सुविधा के लिए ही भगवान् की ओर जाना चाहता है। मानव–जीवन में सबसे बड़ा कलंक यही है कि मानव होकर अपने लिए किसी की आवश्यकता अनुभव करें। यह मानव–जीवन का

सबसे बड़ा प्रमाद, कलंक, लांछन और दोष है।

निर्धन होना कोई दोष नहीं है। अगर हम निर्धनता का सदुपयोग करें, तब भी काम सिद्ध हो सकता है। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि निर्बल होना भी कोई बड़ा भारी दोष नहीं है। क्योंकि बल का सदुपयोग नहीं किया, तो निर्बल हो गये। अब निर्बलता का सदुपयोग करेंगे, तो उद्धार हो जायेगा। यही सबसे बड़ा दोष है कि हम अपने लिए दूसरों की आवश्यकता अनुभव करते हैं।

मानव–जीवन तो ऐसा जीवन है कि जिसमें अपने लिए किसी अन्य की अपेक्षा ही नहीं है। आप कहेंगे कि बिना अन्य की सहायता के हम जीवित ही कैसे रह सकते हैं ? एक दृष्टि से यह बात ठीक भी मालूम होती है। लेकिन अगर मैं अपने साथियों से पूछूँ कि क्या आप लोगों की सहायता से मेरे सभी काम पूरे हो गए ? तो यह मानना ही होगा की सभी काम पूरे नहीं हुए। हालाँकि यह सत्य मालूम होता है कि अन्धे को दूसरे की आँखों से सहायता मिलती है, निर्बल को दूसरे के बल से सहायता मिलती है, निर्धन को दूसरे के धन से सहायता मिलती है, अयोग्य को दूसरों की योग्यता से सहायता मिलती है। इतना तो मानना पड़ता है।

पर यह भी सोचो कि जब कोई धनी निर्धन की सहायता करता है, तब धनी को अपना कोई सुख मालूम होता है कि नहीं ? उसे अपने बड़प्पन का भास होता है कि नहीं ? तो क्या किसी धनी ने निर्धन की सहायता करते हुए अपना कोई सुख या विकास नहीं देखा ? अब आप सोचिये कि बलवान में और निर्बल में कितना अन्तर रहा ? अगर निर्बल न हो, तो बल के सदुपयोग के लिए आपको अवसर ही न मिले। जैसे, कल्पना करो कि संसार में कोई रोगी न रहे, तो सब डाक्टर भूखों मर सकते हैं। और मान लो कि कोई डाक्टर न रहे, तो प्राकृतिक नियम के अनुसार बहुत से रोगी अच्छे हो सकते हैं। किन्तु कोई भी डाक्टर रोगी के बिना जिन्दा नहीं रह सकता।

बहुत से लोग कहते हैं भाई, अगर शिक्षक लोग शिक्षा का प्रचार–प्रसार न करें, तो सब लोग पशुवत् हो जाएँ। उदाहरण देते हैं कि यदि किसी बच्चे को जंगल में पशुओं के बीच छोड़ दिया जाए, तो वह जानवर जैसा हो जाता है। यह ठीक है। पर हम यह जो सोचते हैं कि जिनके पास बल अधिक है, सामर्थ्य अधिक है, योग्यता अधिक है, वे अपना अधिक विकास कर सकते हैं और जिनमें सामर्थ्य कम है, योग्यता कम है, वे विकास नहीं कर सकते। ऐसा मानना निरर्थक है। यह मानव–जीवन के लिए बहुत बड़ा कलंक है। सच बात तो यह है कि मैं तो मानव–जीवन के पक्ष में हूँ, इसलिए मैं ऐसा बोलता हूँ। आप भी सोचिये कि जैसी वस्तु–स्थिति आपकी है, उसी के सदुपयोग से जब आप वास्तविक जीवन पा सकते हैं, तो मानव–जीवन का महत्त्व हुआ कि सामर्थ्य, योग्यता आदि का ?

कल्पना करो कि किसी के पास सामर्थ्य हो और कोई असमर्थ हो। तो असमर्थ प्राणी प्रभु के निर्भर होकर सिद्धि पा सकता है, पर एक सामर्थ्यवान् अपनी सामर्थ्य का दुरुपयोग करके सिद्धि नहीं पा सकता। तो सामर्थ्यवान् के लिए और असमर्थ के लिए जब साधन का प्रश्न आता है, तब दोनों समान हो जाते हैं। अन्तर कहाँ पड़ता है ? जब भोग का प्रश्न आता है, तब सामर्थ्यवान में और असमर्थ में भेद मालूम होता है। जब वस्तु में ही जीवन मान लेते हैं, तब जिसके पास वस्तु है उसमें और जिसके पास वस्तु नहीं है उसमें अन्तर मालूम होता है। किन्तु वस्तुओं में जो जीवन है, वह अविनाशी जीवन नहीं है। यह सभी को मानना ही पड़ेगा, क्योंकि कोई भी वस्तु अविनाशी नहीं है।

अतः वस्तुओं के आधार पर जो जीवन होगा, वह अविनाशी नहीं होगा। जब तक हम सबको अविनाशी जीवन नहीं मिलता, तब तक भाई, सन्तोष तो हो नहीं सकता। यह जो हम लोग सोचा करते हैं कि आज हमें एक विशेष परिस्थिति प्राप्त है, इसलिए हम कोई

विशेष व्यक्ति हैं। यह मिथ्या अभिमान ही है। भाई, कोई नाराज मत होना। मैं कोई आक्षेप नहीं करता। केवल विचार करने के लिए निवेदन कर रहा हूँ कि भाई, विशेष सामर्थ्य होने से जो हम लोग अपने को विशेष व्यक्ति मान लेते हैं और असमर्थ होने पर हम अपने को दीन–हीन मान लेते हैं, यह मानव–जीवन के महत्त्व को न मानने से होता है।

कुछ लोग तो यही घमण्ड करते हैं कि हमारे पास सम्पत्ति सबसे अधिक है। उन्होंने यह कभी नहीं सोचा कि हम में बेसमझी सबसे अधिक है। विचार करें, सम्पत्ति के आधार पर जो तुम्हारा महत्त्व है, शायद उससे अधिक बेसमझी और कहीं नहीं मिल सकती। बहुत से लोग यह समझने लगते हैं कि हमने एक कुलीन ब्राह्मण कुल में जन्म लिया है, इसलिए हम बड़े अच्छे हैं। इसका अर्थ कोई भाई यह न लगालें कि मैं ब्राह्मण जाति का आदर नहीं करता हूँ। मैं आपसे पूछता हूँ कि कुलीन ब्राह्मण घर में जन्म लेने से आप बड़े अच्छे हैं, इसका मतलब क्या हुआ ? देहाभिमान। तो देह के अभिमान के आधार पर जो अच्छाई है, वह क्या वास्तव में अच्छाई है ?

कोई सोचे कि हाय ! हाय !! हमने तो बड़ी ही पतित जाति में जन्म लिया है, हम तो बड़े अभागे हैं। तो मैं आपसे पूछता हूँ कि यदि वह देहाभिमान से रहित हो जाए, तो वह अभागा है या कि कुलीन कुल में जन्म लेने वाला देहाभिमानी ? सिद्धि किसको मिलेगी ? देहाभिमान से रहित को। तात्पर्य क्या निकला ? परिस्थिति से मानव–जीवन का महत्त्व मत आँको। मानवता के नाते अपना महत्त्व आँको। मानवता क्या है ? मानवता का असली अर्थ यह है कि साधन को वर्तमान जीवन की वस्तु मानना। साधन में तभी दृढ़ता आएगी, जबकि उसे वर्तमान जीवन की वस्तु मान लिया जाए। अगर हमें और आपको इस बात में आस्था हो जाए कि जो जीवन का लक्ष्य है, उसका सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है, तो साधन

में पूरी शक्ति लग सकती है और हम सबको सिद्धि मिल सकती है। निद्रा लेना बहुत ही आवश्यक है, उसके बिना किसी प्रकार रह नहीं सकते। यदि इतनी आस्था साधन के सम्बन्ध में हो जाए, तो सिद्धि मिल सकती है।

कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि जवानी खतम हो जायेगी, बुढ़ापा आ जाएगा और मरने के दिन समीप होंगे, तब अन्त मता सो गता–वाले सिद्धान्त को अपना कर भगवान् को प्राप्त कर लिया जाएगा। जवानी तो भोग के लिए है। बुढ़ापे में सत्य की खोज कर ली जाएगी। जब तक शरीर स्वस्थ है, तब तक तो भाई, भोगों का सम्पादन करो। जब शरीर काम नहीं देगा, तब अपने आप संयम को अपना लिया जाएगा। इससे तो भाई, काम चलने वाला नहीं है।

सत्य की खोज में जिसके पास जो है उसे वह देना ही पड़ेगा। जवान को जवानी, बूढ़े को बुढ़ापा, सामर्थ्यवान् को सामर्थ्य, असमर्थ को असमर्थता देनी पड़ेगी। योग्यता जिसके पास है उसे योग्यता देनी पड़ेगी। तो जो जिसके पास है, वह सब देना पड़ेगा। बस, बेड़ा पार हो जाएगा। इतनी–सी बात है भाई। अब यह बात आप अभी मानें, अथवा कभी मानें। पर यह बात माननी पड़ेगी।

मानव–जीवन का सबसे बड़ा प्रमाद यह हो गया है कि हम सिद्धि को वर्तमान जीवन की वस्तु नहीं मानते। बड़ी समझदारी से बड़े प्रमाणों के साथ यह सिद्ध कर देते हैं कि भाई, यह तो अनेक जन्मों की बात है। आपको क्या मालूम है कि आपके अनेक जन्म हो चुके हैं कि नहीं और यह अन्तिम जन्म है ? इसका कोई सबूत है क्या ? भाई, मैं तो ऐसा मानता हूँ कि यह मानव–जीवन अन्तिम जन्म है और ऐसा मैं मान कर चलता हूँ कि परिस्थिति से मानव–जीवन की महत्ता में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

यह दो बातें अगर समझ में आ जाएँ, तो जीवन में जितनी गिरावट है, जितनी उथल–पुथल है, सब शान्त हो जाए। मानव होने में हम सब समान हैं, हम सब स्वाधीन हैं परिस्थिति भेद होने

पर भी। जब यह बात समझ में आ जाती है, तब बड़ी ही सुगमतापूर्वक हम सिद्धि के लिए जो साधन करना चाहिए, उसे करने लगते हैं। जब साधन करने लगते हैं, तो सिद्धि होती है। साधन करें और सिद्धि न हो, ऐसा नहीं हो सकता।

देखिए, साधन और असाधन में एक बड़ा भारी अन्तर यह है कि साधन में सिद्धि अनिवार्य है, पर असाधन में नहीं। जैसे, कोई व्यापारी से पूछे कि भाई, तुमको लाभ ही होगा क्या ? तो वह कहेगा कि भाई हानि भी हो सकती है और लाभ भी हो सकता है। जब दो देशों में, दो वर्गों में युद्ध होता है, तब क्या कोई पक्ष यह कह सकता है कि सदैव हम विजयी होते रहेंगे ? नहीं कह सकता। जब आप किसी वस्तु को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, तब क्या आप यही कहते हैं कि हम वस्तु प्राप्त कर ही लेंगे ? कभी कर लेते हैं और कभी नहीं कर पाते। पर भाई, साधन के सम्बन्ध में यह निश्चित बात है कि आपको सिद्धि अवश्य मिलेगी। यह हो नहीं सकता कि साधन अपना लेने पर सिद्धि न हो। अवश्य सिद्धि होगी।

वह सिद्धि क्या होगी ? इस पर विचार कर लीजिए। साधन–निर्माण में यह भी बड़ी भारी कठिनाई है कि लोग यह नहीं जान पाते कि साधन की सिद्धि क्या है। साधन की सबसे बड़ी सिद्धि यह है कि आपका जीवन अपने लिए उपयोगी हो जाए, अर्थात् आपको स्वाधीनता प्राप्त हो जाए। स्वाधीनता की प्राप्ति, उदारता की प्राप्ति सिद्धि और प्रेम की प्राप्ति सिद्धि।

जब स्वाधीनता जीवन में आ जाती है, तब फिर किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि की अपेक्षा नहीं रहती। निरपेक्ष जीवन हो जाता है। आज कितने लोग ऐसे होंगे कि जो यह कह सकें कि हमारा निरपेक्ष जीवन है ? बड़े–से–बड़े पूँजीपति से पूछा जाए कि भाई, ईमानदारी से बताओ कि अगर तुमको और हमको यानी मुझ जैसे भिखारी को और तुम जैसे पूँजीपति को एक अपरिचित स्थान पर किसी यन्त्र से फेंक दिया जाए, तो बताओ कि किसके जीवन में

ज्यादा उथल–पुथल मचेगी ? विचार तो करो।

एक विनोद की बात बताएँ आपको। पंजाब में सत्संग होता था। एक खत्री जाति के सज्जन थे मुनई लाल। वे बड़े सत्संगी थे और साधुओं के बड़े भक्त थे। वे एक सन्त से कहने लगे कि तत्त्व–ज्ञान होने पर आपके और हमारे जीवन में क्या अन्तर रहेगा ? सन्त ने कहा कि ज्ञान में कोई अन्तर नहीं होता। वे सज्जन बोले कि फिर हम और आप समान हो गए कि नहीं ? सन्त हँसने लगे। फिर सन्त ने कहा कि तुम कहते हो कि हम और आप समान हो गए, तो उठो चलो मेरे साथ। तो वे सज्जन कहने लगे कि महाराज ! हम अभी कैसे चल सकते हैं ? सन्त बोले कि विषमता आ गई कि नहीं ? भाई, ज्ञान में समता है, वस्तु–स्थिति में नहीं।

मानव–मात्र को निरपेक्ष जीवन सबसे पहले प्राप्त करना चाहिए। यह निरपेक्ष जीवन किसी परिस्थिति के बदलने से प्राप्त नहीं होता। यह निरपेक्ष जीवन प्राप्त होता है स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होने पर। तो स्वाधीनता की अभिव्यक्ति कब होती है ? और स्वाधीनता किसे प्राप्त होती है ? आप विचार करें कि जब किसी को कोई चीज देनी है, तब आप स्वाधीनता का अनुभव करते हैं या पराधीनता का ? स्वाधीनता का। देना है, तो स्वाधीनता। और लेना है, तो ? पराधीनता। अच्छा, जो देना है उसे राजी से दे दें और लेना है उसे छोड़ दें, तो आप स्वाधीन हो जाएँगे कि नहीं ? अगर हमको देना बाकी है, तो स्वाधीन नहीं हो सकते और लेना बाकी है, तो स्वाधीन नहीं हो सकते। जो दिया है उसे लेने की चाह होती है, पर मिलने में पराधीनता है।

आज हम लोग जाने कैसे सोचने लगे हैं कि साधन बड़ा कठिन है। अरे भाई, जो चीज आपके पास नहीं है, उसके देने का दायित्व आप पर नहीं है। जो देना है वह तो संग्रह के रूप में मौजूद है और जो लेना है वह कामना के रूप में है। तो अगर आज हम यह सोच लें कि भाई हमको जो लेना था, वह सब हमने छोड़ दिया।

कैसे छोड़ दिया ? अगर देने वाला नहीं दे रहा है, तो हमें ऐतराज नहीं होना चाहिए। अगर देने वाला देता है, तो देने वाले की प्रसन्नता के लिए स्वीकार करेंगे। किन्तु लेना हमारे जीवन का लक्ष्य नहीं है। लेने के लिए हमारा जीवन नहीं है और लेने में हमारा जीवन नहीं है। यह तो ज्ञान से सिद्ध है कि भाई, लेने में जीवन नहीं है। यह ज्ञान–सिद्ध बात है।

तो भाई, जो लेना है उसकी तो कामना छोड़ दी। मिल जाए तो बहुत अच्छा, और न मिल जाए तो और भी ज्यादा अच्छा। जो देना है, जो संग्रह के रूप में है, उसको उदारतापूर्वक दे दिया कि भाई, यह तो आप ही का है। आप ही की यह धरोहर है। हमारा इसमें कुछ नहीं है। इस बात को स्वीकार करने पर बताइए कि निरपेक्ष जीवन प्राप्त हो जाएगा कि नहीं ? यह निरपेक्ष जीवन वह जीवन है कि जिसके लिए किसी की अपेक्षा नहीं है। किन्तु यहाँ एक बात सोचनी होगी कि देना भी जीवन नहीं है। देना तो जीवन की प्राप्ति का साधन है। न लेना भी जीवन नहीं है। न लेना भी जीवन की प्राप्ति का साधन है।

हमसे दूसरी असावधानी क्या होती है कि जो देना है वह है साधन, उसी को हम साध्य मानने लगे, उसी का मजा लेने लगे। देने का भोग करने लगे और न लेने का भी भोग करने लगे। किसी महात्मा से कोई कहे कि यह ले लो। तो वे अकड़कर कहेंगे कि हमें कुछ नहीं चाहिए। भाई, अकड़ते क्यों हो ? इसी प्रकार देने में भी लोग बड़ा गौरव अनुभव करते हैं कि हमारे समान उदार कौन होगा, हमारे समान सेवक कौन होगा ! तो मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि देना भी जीवन नहीं है। और न लेना भी जीवन नहीं है। तो न लेने से और देने से जो मिलता है अपने आप या जो शेष रहता है, उसका नाम है–जीवन।

अब एक और प्रश्न पैदा होता है। बहुत गम्भीरता से विचार करें। लेने और देने का उद्‌गम क्या है ? उसी का नाम है अहं रूपी

अणु। वह अहं रूपी अणु कैसा विचित्र है महाराज ! देह से मिला दो, तो देह बन जाए और जीवत्व से मिला दो, तो जीव बन जाए। ब्रह्मत्व से मिला दो, तो ब्रह्म बन जाए। और सबसे हटा दो, तो कुछ न रह जाए। ऐसा यह अहं रूपी अणु है, जिसका मूल है, लेने और देने का रस। लेना पसन्द करें और देना बन्द कर दें, यह भी अहं है। आप कहेंगे कि यह तो असाधन है।

असाधन क्या है ? देने की सोचें ही नहीं, लेना ही लेना सोचें। यह असाधन हो गया। तो असाधन में भी जीवन नहीं है। जिसको देना है, दे दिया और लेना बन्द कर दिया। यह साधन हो गया। पर इसमें भी जीवन नहीं है। तात्पर्य क्या निकला ? अकर्त्तव्य में भी जीवन नहीं है, कर्त्तव्य में भी जीवन नहीं है। अकर्त्तव्य सदैव आपको पराधीनता की ओर ले जाएगा और कर्त्तव्य आपको स्वाधीनता की ओर ले जाएगा। असाधन हमेशा अवनति की ओर ले जाएगा और साधन हमेशा उन्नति की ओर ले जाएगा।

तो उन्नति की ओर ले जाने के लिए साधन बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। असाधन अवनति की ओर ले जाता है, इस कारण महत्त्व की वस्तु नहीं है। किन्तु भाई, साधन भी जीवन नहीं है और असाधन भी जीवन नहीं है। जीवन का अर्थ है–लक्ष्य। तो जीवन कहाँ है ? जहाँ असाधन की उत्पत्ति न हो और साधन का अभिमान न रहे। यानी यह अभिमान न रहे कि हम चाह–रहित हो गए। इस बात का अभिमान न हो कि हमको उदारता प्राप्त हो गई, हमने बड़ी सेवाएँ कीं। इस बात का तो अभिमान नहीं होना चाहिए। और भाई, असाधन की उत्पत्ति न हो। जब असाधन की उत्पत्ति नहीं होती और साधन का अभिमान नहीं रहता, तब साध्य का प्रेम प्राप्त होता है।

निरपेक्ष जीवन में ही प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। निरपेक्ष जीवन ही अमरत्व को प्राप्त करता है। निरपेक्ष जीवन प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन को वर्तमान में मिल सकता है। यदि कोई यह सोचे कि शरीर, योग्यता, पद और वस्तु आदि संग्रह के रूप में जो प्राप्त है,

जब तक यह सब संग्रह समाप्त नहीं हो जाता, तब तक सिद्धि नहीं मिलेगी। ऐसी बात नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि जब तक इस संग्रह का आश्रय नहीं छूटेगा, तब तक सिद्धि नहीं मिलेगी। फिर होगा क्या ? तो भाई, सिद्धि मिलने से पूर्व साधन जीवन हो जाएगा और सिद्धि मिलने पर साधन स्वभाव हो जायगा।

तो साधन जीवन कब तक रहेगा ? जब तक सर्वांश में साधन को नहीं अपना लिया जाता। जैसे, अपने पास जो कुछ है, वह वास्तव में अपना नहीं है और न अपने काम आएगा। यह बात जब तक हम सर्वांश में स्वीकार नहीं कर लेंगे, तब तक जो वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि प्राप्त है, उसका अभिमान नाश नहीं होगा। जब तक वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का अभिमान नाश नहीं होगा, तब तक परिच्छिन्नता नाश नहीं होगी। जब तक परिच्छन्नता नाश नहीं होगी, तब तक सर्वांश में निष्कामता नहीं आएगी और जब तक सर्वांश में निष्कामता नहीं आएगी, तब तक दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता नहीं होगी।

इसलिए जो कुछ वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि प्राप्त है, वह अपनी नहीं है और अपने लिए नहीं है। यह बात अपने–अपने ज्ञान से, अपने–अपने विवेक से जानकर प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहिन को स्वीकार करनी पड़ेगी। पहले जानो, फिर स्वीकार करो।

हमें और आपको अगर यह विश्वास हो जाए कि जो कुछ हमें प्राप्त है, अपना नहीं है और अपने लिए नहीं है, तो क्या किसी को वस्तु आदि देने में कठिनाई होगी ? नहीं होगी। परन्तु यह तब होगा, जब आप अपने ज्ञान से अनुभव करें कि मिला हुआ अपना नहीं है और अपने लिए नहीं है। केवल विश्वास से काम नहीं चलेगा। विश्वास में विकल्प हो जाता है। ज्ञान में विकल्प नहीं होता।

चित्त शुद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि शरीर, मन, प्राण, बुद्धि, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का सदुपयोग दूसरों की सेवा में किया जाए। आपके पास जो कुछ है, वह सब सेवा–सामग्री

है। संसार के पास ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी पहुँच आप तक हो। उसकी पहुँच आपके शरीर तक ही रहती है। यानी संसार से जो कुछ मिलता है, वह सब सेवा–सामग्री है तथा उसकी पहुँच केवल शरीरों तक ही रहती है। तात्पर्य क्या ? जैसे, गंगाजल से गंगा की पूजा कर दें, तो बतलाइए कि पूजा करने में क्या कोई खर्च होगा ? वैसे ही संसार की वस्तु से संसार की सेवा कर देनी है। इससे होगा क्या ? आपको ऐसा निरपेक्ष जीवन प्राप्त हो जाएगा, जिसमें श्रम–रहित चिर विश्राम होगा। ऐसा जीवन कब प्राप्त होगा ? जब आप अपने ज्ञान यानी विवेक का आदर करेंगे और जगत् की सेवा करेंगे।

हमारे एक मित्र हैं। वे दर्शन शास्त्र के बड़े विद्वान हैं। उन्होंने दर्शन शास्त्र पाँच वर्ष पढ़ा और तीस वर्ष पढ़ाया। उनके साथ मेरी अभ्यास और अनभ्यास के सम्बन्ध में चर्चा हुई। वे अभ्यास पर बल देते थे और मैं अनभ्यास पर। अन्त में उन्होंने स्वीकार किया कालेज में अपने विद्यार्थियों के सामने कि ये बेपढ़े संन्यासी बड़े फिलोसोफर हैं।

भाई, एक ही दर्शन के छः भाग हैं। उनमें तीन पूर्व पक्ष हैं और तीन उत्तर पक्ष हैं। दर्शन कहते हैं ज्ञान को। यह ज्ञान किसी अभ्यास का फल नहीं है, किसी अभ्यास से ज्ञान प्राप्त नहीं होता। आप कहेंगे कि वैज्ञानिक बड़े–बड़े अविष्कार करते हैं, तब उन्हें ज्ञान प्राप्त होता है। पर सच बात यह है कि साइन्स कोई विशेष ज्ञान नहीं है। साइन्स वस्तु के उपयोग वाला ज्ञान है। यह विशेष ज्ञान नहीं है, अल्प ज्ञान है। जैसे इन्द्रियों का या बुद्धि का ज्ञान। यह दोनों ही अल्प ज्ञान हैं।

तो दर्शन क्या है ? साइन्स जिन चीजों का उपयोग करती है, उनके मूल तत्त्व को बताने वाला विशेष ज्ञान। दर्शन से कौन सी बात सिद्ध होती है ? हम सबको अभी–अभी निरपेक्ष, स्वाधीन, चिन्मय जीवन मिल सकता है, क्योंकि 'है' उसे कहते हैं जिसका

कभी नाश न हो, जिससे देश–काल की दूरी न हो और जो सभी को प्राप्त हो सके, यानी जो सभी का अपना हो। इसलिए वह मानव का अपना जीवन है।

जब मानव अपना जीवन पा लेता है, तब वह काम–रहित हो जाता है और सेवापरायण हो जाता है। सेवापरायण होने से समाज को उसकी आवश्यकता अनुभव होती है और काम–रहित होने से उसे किसी की आवश्यकता नहीं रहती। समाज को उसकी आवश्यकता किस अर्थ में होती है ? निर्दोष जीवन प्राप्त होने पर दो विभूतियाँ आ जाती हैं–(१) उदारता और (२) प्रेम। उदारता से मनुष्य जगत् के लिए उपयोगी हो जाता है और प्रेम से वह अनुत्पन्न तत्त्व अनन्त के लिए उपयोगी हो जाता है। उदारता और प्रेम मानवता के फल हैं। यानी मानवता में उदारता और प्रेम का उदय होता है।

मानवता क्या है ? मानवता है साधन। किस रूप में ? भाई, जो हमारे पास है, वह हमारा नहीं है और जो दूसरों के पास है, उसकी हमें माँग नहीं है। उस मानवता का फल हो जाता है–स्वाधीनता, उदारता और प्रेम। इन तीनों को इकट्ठा कर दें, तो यही मानवतायुक्त मानव का चित्र है। यानी जहाँ उदारता है स्वाधीनता है और प्रेम है, वहीं मानवता है।

पहले क्या आती है ? पहले आती है स्वाधीनता। स्वाधीनता का अर्थ क्या है ? अचाह पद की प्राप्ति। अचाह होने पर ही व्यक्ति स्वाधीन होता है, उसे किसी की आवश्यकता नहीं रहती। फिर उसके जीवन में उदारता की अभिव्यक्ति होती है, जिससे वह संसार के काम आता है। यानी संसार उसकी आवश्यकता अनुभव करता है। उदार चरित मानव ही सेवा कर पाता है। वह अपने पास जो कुछ है उसे बिना किसी प्रत्युपकार की आशा के दूसरों की सेवा में लगा देता है। फिर प्रेम का उदय होता है। प्रेम की अभिव्यक्ति होने पर वह प्रभु के काम आता है।

आप कहेंगे कि ऐसा सुन्दर जीवन किसकी देन है ? तो कहना

होगा कि जो ईश्वरवादियों का जो ईश्वर है, तत्त्ववेत्ताओं का तत्त्व है और भौतिकवादियों की चिर शान्ति है, उसी की यह देन है। अध्यात्म दर्शन की दृष्टि से आप कहेंगे कि ऐसा अनुपम जीवन हमें अपने से ही अपने को प्राप्त हुआ है। देखिये, यह तो अपनी–अपनी भाषा है। भाषा सत्य के दरवाजे तक नहीं पहुँचा सकती, केवल संकेत करती है। भाषा तो साहित्य को सुरक्षित रखने के लिए एक माध्यम है।

अगर प्रत्येक भाई और बहन अपने ज्ञान और अनुभूति का आदर करे, तो उसके जीवन में श्रुति अवतरित हो जाए। उदारता की अभिव्यक्ति होने पर जगत् से भेद नहीं रह सकता और प्रेम की अभिव्यक्ति होने पर प्रभु से दूरी, भेद, भिन्नता नहीं रह सकती। अचाह होने पर पराधीनता नहीं रह सकती, अभाव नहीं रह सकता। इस दृष्टि से विचार करें, तो मानव–जीवन कितने महत्त्व का जीवन है ! इसमें हम सब समान हैं। मानव–जीवन के महत्त्व को अपना लेने पर जीवन में कितना सौन्दर्य आ जाएगा, कितनी महानता आ जाएगी ! उस जीवन में भेद की गंध भी नहीं रहेगी, अभाव नहीं रहेगा और पराधीनता भी नहीं रहेगी।

मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि अगर हमको अपने साध्य में आस्था हो जाए और यह विश्वास हो जाए कि हमारा साध्य हमसे दूर नहीं है, वह हममें ही है, तो यह भ्रम निकल जाए, यह प्रमाद निकल जाय कि हाय ! हाय !! हम साधारण व्यक्तियों को चिन्मय जीवन कैसे मिलेगा, जब तक कि हिमालय की कन्दरा में नहीं जाएँगे, जब तक कुरान और पुराण में हमारा प्रवेश नहीं होगा ?

यदि निष्पक्षभाव से हम और आप विचार करें, तो मालूम होगा कि पहले मनुष्य बना और पीछे वेद अवतरित हुए। यह तो मानव–जीवन की विभूति है। क्या कोई प्रमाण है कि वेदों का प्रादुर्भाव ऋषियों के जन्म से पूर्व हुआ है ? देखो भाई, आप लोग यह अर्थ मत लगा लेना कि मैं वेदों में श्रद्धा नहीं रखता। मैं वेदों में

महान् श्रद्धा रखता हूँ। पर मेरा निवेदन यह है कि वेदों के प्रादुर्भाव के पूर्व आपके मानव–जीवन का निर्माण हुआ है। आपके मानव–जीवन से वेदों की शोभा होती है, वेदों का प्रचार होता है और वेदों का महत्त्व बढ़ता है।

मैं आपसे पूछता हूँ कि अगर भगवान् श्याम सुन्दर अर्जुन को गीता सुना सकते हैं, तो क्या वे अन्तर्यामी रूप से हमको–तुमको गीता नहीं सुना सकते ? पर आप श्याम सुन्दर से गीता नहीं सुनना चाहते। आप तो गीता की टीका पढ़–पढ़कर, व्याख्यान दे–देकर मिथ्या अभिमान को खरीद कर अपने और दुनियाँ को बहकाने में लगे हैं।

इसलिए भाई, अपने जीवन में वेदों की अभिव्यक्ति करो, पुराण–कुरान–बाइबिल की अभिव्यक्ति करो। यह हो सकता है । जिस अनन्त ने मुहम्मद को इलहाम दिया, वह अनन्त आपका भी है। जिस अनन्त से ऋषियों के हृदय में वेदों का प्रादुर्भाव किया, वह अनन्त आपका भी है भाई।

आप कहेंगे कि उनका जीवन बड़ा निर्मल था। तो क्या आपका जीवन निर्मल नहीं हो सकता ? सबका जीवन निर्मल हो सकता है। अरे भाई, अपने बनाए हुए दोष को ही तो मिटाना है। कोई भी दोष प्राकृतिक नहीं है। हम अपने दोष को मिटाने में पूरी तरह समर्थ हैं। जो भी हमें सामर्थ्य प्राप्त है, उसी के सदुपयोग का दायित्व है। यह नियम है कि सामर्थ्य का दुरुपयोग न करने पर सदुपयोग स्वतः होने लगता है। तो अपने पर केवल इतनी जिम्मेदारी रह गई कि जो कुछ भी सामर्थ्य प्राप्त है, उसका दुरुपयोग नहीं करेंगे। बस, जीवन निर्मल हो जाएगा। यही मानव–जीवन है।

भाई, मानव–जीवन में सभी वेद–शास्त्रों की अभिव्यक्ति हो सकती है। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। किन्तु दुःख इस बात का है कि हम मानव–जीवन के महत्त्व को भूल गए। यह नहीं कि हमें इसका ज्ञान न हो। हमें विवेक रूपी ज्ञान का प्रकाश प्राप्त है।

पर हम उसका आदर ही नहीं करते। आप देखिए, यह सबको पता है कि जन्म से ही प्राण शक्ति घटने लगती है और मृत्यु आरम्भ हो जाती है। परन्तु फिर भी मरने से डरते हैं।

यदि हम शरीर के रहते–रहते इस बात को स्वीकार कर लें कि शरीर हमारा नहीं है, साथियों के रहते–रहते स्वीकार कर लें कि साथियों से वियोग अनिवार्य है और वस्तुओं के रहते–रहते यह स्वीकार कर लें कि वस्तुएँ न हमारी हैं और न हमारे लिए हैं, तो जीवन में भय होगा क्या ? यानी आप अभय हो जाएँगे। आज जो अमेरिका रूस से भयभीत है और अमेरिका दूसरों को भयभीत करने की सोचता है, इसका कारण है कि जो स्वयं भयभीत होता है, वही दूसरों को भय देता है।

भैया, जो कुछ नहीं चाहता, वही अभय होता है और दूसरों को अभय बनाता है। अभय होने में हम सब स्वाधीन हैं। यानी हम सब अचाह हो सकते हैं। साधन कितना सुलभ है ! परन्तु साधन में दृढ़ता इसलिए नहीं है कि सिद्धि को हमने वर्तमान की वस्तु स्वीकार नहीं की। यदि हम साधन को वर्तमान की वस्तु स्वीकार कर लें तथा साधन में हम सब स्वाधीन हैं, इस सत्य को स्वीकार कर लें, तो साधन में दृढ़ता हो सकती है। ऐसा मेरा विश्वास है और अनुभव भी है।। ॐ।।

४१ (ब)

प्रवचन :

मानवमात्र जन्मजात साधक है और सत्संगी होकर साधननिष्ठ हो सकता है। सत्संगी होने के लिए अपनी माँग का ठीक–ठीक अनुभव करना आवश्यक है। हमारी माँग क्या है ? हमें अविनाशी, स्वाधीन और रसरूप जीवन चाहिए। इसके लिए करना क्या है ? सबसे पहले सेवा करनी है। सेवा हमारा साधन है और स्वाधीन, अविनाशी, रसरूप जीवन साध्य है। सेवा किसकी करनी है ? भाई, निकटवर्ती जन–समाज की सेवा करनी है, प्रिय जनों की सेवा करनी है।

सबसे बड़ी सेवा क्या है ? मेरे जानते, किसी को बुरा न समझना सबसे बड़ी सेवा है। जो किसी को बुरा नहीं समझता, उसमें अशुद्ध संकल्प उत्पन्न नहीं होते और बुरे संकल्प नाश हो जाते हैं। जब बुरे संकल्प नाश हो जाते हैं, तब अपने आप शुद्ध संकल्प पूरे हो जाते हैं। तब समझना चाहिए कि सेवा का क्रियात्मक रूप आरम्भ हो गया।

शुद्ध संकल्प का मतलब क्या है ? सबका भला चाहना, सबका हित चाहना। ऐसे सेवक सभी का विकास चाहते हैं। यहाँ से सेवा आरम्भ होती है और उसका अन्त कहाँ होता है ? सेवा का अन्त त्याग में होता है। सेवा करने से त्याग का बल आ जाता है। जिसने विधिवत् सेवा की है, उसमें त्याग का बल अवश्य आ जाता है। बहुत से लोग सोचते हैं कि अपने परिवार या देश की सेवा करेंगे, तो मोह में फँस जाएँगे। यह बिल्कुल गलत बात है। सेवा करने से मोह का नाश होता है और प्यार पुष्ट होता है। सेवा करने से कोई फँसता नहीं है।

हाँ, एक बात अवश्य है कि यदि सेवक कहलाने की कामना

रहेगी अथवा सेवा के बदले में मान और भोग पसन्द करोगे, तो फँसे हुए हो ही। लेकिन यदि बच्चों और परिवार के मोह से रहित होना हो, तो उनकी सेवा करो। उनसे सुख मत लो, सुख की आशा मत करो। सेवा करने से विद्यमान राग की निवृत्ति हो जाती है। जो राग पहले से मौजूद है वह सेवा करने से नाश हो जाता है।

आज हम इस बात को मानें, न मानें; लेकिन जिसको जो कुछ मिला है–जैसा पति मिला है, जैसी सन्तान मिली है, जैसा भाई मिला है, जैसा परिवार मिला है–वह सब विद्यमान राग का ही परिणाम है। विद्यमान राग की निवृत्ति सेवा करने से ही होती है। लेकिन कब होती है ? जब सेवा करने पर भी सेवक कहलाने तक की रुचि न हो, उसका फल पाने की रुचि न हो। जो अपना अधिकार छोड़कर दूसरों के अधिकार की रक्षा करता है, वही सेवक है। यही है धर्म–विज्ञान। धर्म भी एक साइंस है। कैसे ? भाई, दूसरों के अधिकार की रक्षा करो और अपने अधिकार का त्याग करो। यह हर भाई, हर बहन के लिए जरूरी है।

दूसरी बात क्या है ? भूतकाल की भूल को न दोहरा कर वर्तमान की निर्दोषता को सुरक्षित रखो। और तीसरी बात क्या है ? हममें और दूसरों में अनेक भेद हों–रुचि का भेद हो, मान्यता का भेद हो, रहन–सहन का भेद हो, मजहब और इज्म का भेद हो। अनेक भेद होने पर भी प्रीति की एकता हो।

तो मानव मात्र के लिए तीन बातें हुई– (१) हम दूसरों के अधिकारों की रक्षा करेंगे, जिससे विद्यमान राग निवृत्त हो जाए और अपने अधिकार का त्याग करेंगे, जिससे नवीन राग की उत्पत्ति न हो। (२) की हुई भूल को न दोहराकर अपनी वर्तमान निर्दोषता सुरक्षित रखेंगे। (३) अनेक भेद होने पर भी सभी के साथ प्रीति की एकता रखेंगे।

आप जानते हैं, आज सामाजिक संघर्ष मिटाने का सबसे सुन्दर उपाय क्या है ? यह उपाय नहीं है कि हम जो मानते हैं, वह

सब मानने लग जाएँ, हम जो करते हैं वह सब करने लग जाएँ। यह उपाय नहीं है। उपाय यह है कि हम अपने और दूसरों के बीच में अनेकों प्रकार के भेद क्यों न पाएँ, पर सभी के साथ प्रीति की एकता रखेंगे। यह जो प्रीति की एकता होती है, यह बुराई करने से रोक देती है। जो हमको प्यारा लगता है उसके साथ हम बुराई नहीं कर पाते।

बुराई रोकने के लिए सरकार की कल्पना हुई, बड़े–बड़े कानून बनाये गए, लेकिन बुराई रुकी क्या ? बुराई रोकने के लिए मजहब की कल्पना हुई, बड़ी–बड़ी साधन प्रणालियाँ बनाई गईं। पर बुराई रुकी क्या ? मानना पड़ेगा कि बुराई नहीं रुकी। मजहब के नाम पर भी झगड़े होते हैं। इज्म के नाम पर भी झगड़े होते हैं। राष्ट्रीयता के नाम पर भी झगड़े होते हैं। तो गम्भीरता से विचार करने पर ऐसा लगता है कि अगर आपको सचमुच विश्व–शान्ति के यज्ञ में भाग लेना है या सभी को भला देखना है, तो प्रीति की एकता स्वीकार करो।

आज अगर हम प्रीति की एकता को स्वीकार कर लें और भलाई न भी करें, तो कम से कम बुराई तो नहीं करेंगे। जब समाज में बुराई नहीं रहती और जब जीवन में बुराई नहीं रहती तो अपने आप सुन्दर समाज का निर्माण हो जाता है, विश्व–शान्ति का प्रश्न हल हो जाता है।

तो महानुभाव ! मुझे कोई नई बात निवेदन नहीं करनी है। निवेदन यह करना है कि अगर आप चाहते हैं कि हमारे जीवन में से बुराई सदा के लिए निकल जाए, तो सभी को प्यार देना सीखो। वस्तु दो, मत दो। आपके द्वारा वस्तु न देने से दुनियाँ की कोई बड़ी भारी हानि नहीं हो जाएगी और आपकी वस्तु से सारे समाज की गरीबी नहीं मिट जाएगी। क्षमा करें महानुभाव ! कोई आश्रम ऐसा नहीं बना, कोई संस्था ऐसी नहीं बनी कि जिसमें सबका प्रवेश हो जाए। हमने तो कोई विद्यालय ऐसा नहीं देखा, जिसमें सबका

ऐडमीशन हो जाए। कोई धर्मशाला ऐसी नहीं देखी, जिसमें सबको जगह मिल जाय। क्रियात्मक सेवा तो सीमित ही होती है। उसका आप कितना ही विस्तार कीजिए। आखिर वह सीमित ही रहती है।

अगर हम और आप प्रीति की एकता स्वीकार कर लेते हैं कि हम सभी को प्यार देंगे, सभी को आदर देंगे, हम किसी को हानि नहीं पहुँचाएँगे। तो महानुभाव ! इससे जो सेवा बनेगी, उतनी अच्छी सेवा सारी दुनियाँ का कोई भी राष्ट्र, कोई भी मजहब, कोई भी संस्था आज तक नहीं कर सकी। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं संस्थाओं का आदर नहीं करता हूँ या मैं मजहब का आदर नहीं करता हूँ। लेकिन गम्भीरता से विचार करके देखें तो मानना होगा कि जिन्होंने सभी को आदर–प्यार देना स्वीकार किया, जीवन में प्रीति की एकता स्वीकार की, उनके द्वारा जो सेवा हुई है, वह किसी के द्वारा नहीं हुई।

सेवा करने का फल क्या है ? सेवा करने की भावना फैल जाए। सेवा का असली स्वरूप तो यही है कि हमारे हृदय में सभी के प्रति प्यार आ जाए और जीवन में से व्यक्ति, वस्तु, परिस्थिति और अवस्थाओं की जो दासता है, उसका नाश हो जाए। आप व्यक्ति की दासता में फँसकर मोह से रहित नहीं हो सकते। आप वस्तुओं की दासता में फँसकर लोभ से रहित नहीं हो सकते। आप परिस्थिति की दासता में फँसकर अभिमान और दीनता से रहित नहीं हो सकते। आप अवस्था की दासता में फँसकर परिच्छिन्नता से रहित नहीं हो सकते।

महानुभाव ! मेरा निवेदन केवल इतना ही था कि जो किसी को भी अपना नहीं मानता, वही सभी को अपना मानता है। जो सभी को अपना मानता है, उसी में यह सामर्थ्य आती है कि वह किसी को अपना न माने। आज हमसे भूल क्या होती है ? हम व्यक्तियों की सेवा करते हैं और वस्तुओं से सम्बन्ध रखते हैं। आपकी सेवा का पात्र तो सारा संसार है। सबसे बड़ी सेवा धन से नहीं हो सकती,

योग्यता से नहीं हो सकती, बल से नहीं हो सकती, कानून से नहीं हो सकती। सबसे बड़ी सेवा हो सकती है, किसी का बुरा न चाहने से, किसी को बुरा न समझने से और किसी के साथ किसी भी कारण से बुराई न करने से।

आप अगर सच्चे सेवक होना चाहते हैं और सबसे बड़े सेवक होना चाहते हैं, तो आपको यह तीनों बातें अपने ही द्वारा अपने में स्वीकार करनी पड़ेंगी। (१) आज से मैं किसी को बुरा नहीं समझूँगा। (२) आज से मैं किसी का बुरा नहीं चाहूँगा। (३) आज से मैं किसी के साथ बुराई नहीं करूँगा। महानुभाव ! मैं नहीं कहता कि आप किसी का भला करें। मैं नहीं कहता कि आप किसी के साथ भलाई करें। यह क्या कम है कि हम किसी को बुरा न समझें, हम किसी का बुरा न चाहें, हम किसी के साथ बुराई न करें ? यह कोई कम नहीं है।

जब यह चीज जीवन में आ जाती है, तो आप जानते हैं, क्या होता है ? यह बड़ी ही दार्शनिक बात है। अगर आज हमारे और आपके जीवन में यह बात आ जाए कि हम किसी को बुरा नहीं समझेंगे, हम किसी का बुरा नहीं चाहेंगे, हम किसी के साथ बुराई नहीं करेंगे, तो आप सच मानिए, यह सद्भावना इतनी व्यापक हो सकती है कि सभी लोग इस बात को मान लें।

सीखी–सिखाई बात अधिक नहीं ठहरती। अभिव्यक्त हुई सच्चाई कभी नष्ट नहीं होती। तो सच्चाई हमारे–आपके जीवन में अभिव्यक्त होनी चाहिए। उसको बलपूर्वक ऊपर से नहीं भरना चाहिए। हमारे और आपके जीवन में सच्चाई अवतरित होनी चाहिए। अगर आप सचमुच विश्व–शान्ति के प्रश्न को हल करना चाहते हैं, मानव जाति की यथेष्ट सेवा करना चाहते हैं, सारे संसार को सुखी देखना चाहते हैं, अपने को शान्त देखना चाहते हैं, अपने को स्वाधीन देखना चाहते हैं; तो आज इस बात की आवश्यकता है कि हम और आप दूसरों को बुरा समझना, दूसरों का बुरा चाहना, दूसरों

के साथ बुराई करना छोड़ दें। इसमें आपके धन का खर्च नहीं होगा, इसमें आपको शारीरिक परिश्रम नहीं करना पड़ेगा। इसमें आपको अपना परिवर्तन करना पड़ेगा। अपनी अहंता बदलनी पड़ेगी। आपको अपने में यह बात माननी पड़ेगी कि मुझे अधिकार नहीं है किसी को बुरा समझने का, मुझे अधिकार नहीं है किसी का बुरा चाहने का, मुझे अधिकार नहीं है किसी की बुराई करने का। अगर आप सचमुच विश्व की सबसे ऊँची सेवा करना चाहते हैं, आप अपने द्वारा करना चाहते हैं, हर परिस्थिति में करना चाहते हैं; तो यह महाव्रत लेना ही होगा।

अब दूसरा प्रश्न आता है, अपने कल्याण का। अगर आप सचमुच अपना कल्याण चाहते हैं, तो आपका कल्याण किसी बाह्य सहायता से नहीं होगा, किसी और के द्वारा नहीं होगा। आपका कल्याण होगा, आपके निज ज्ञान के प्रभाव से।

आपका ज्ञान आपको क्या बताता है ? हर भाई का ज्ञान यह बताता है कि जैसा शरीर पहले था, वैसा अब नहीं है और जैसा आज है, वैसा आगे नहीं रहेगा। हम लोग आज मिले हैं, एक दिन अलग हो जाएँगे। यह ज्ञान हमको यह प्रेरणा देता है कि आज मिले हैं और एक दिन अलग हो जाएँगे। तो हमें निर्मम होना है, द्वेष नहीं करना है। यह नहीं कि हम किसी को तो बुरा समझने लग जाएँ और किसी को अच्छा समझने लग जाएँ। यह बिल्कुल गलत बात है, अपने को धोखा देना है। जिसे परमात्मा प्यारा लगता, उसे सब प्यारे लगते हैं। जिसे सन्त प्यारा लगता है, उसे सब प्यारे लगते हैं। क्योंकि सन्त और परमात्मा सभी को अपना मानते हैं। परमात्मा माने, सभी को अपना मानना। और हम माने, किसी को अपना और किसी को गैर मानना। तो भाई, यह परमात्मा की भक्ति नहीं हुई, सन्त की भक्ति नहीं हुई। सन्तों ने तो सबसे यही कहा है कि सभी को अपना मानो। सभी अपने हैं। कोई और नहीं, कोई गैर नहीं।

महानुभाव ! जो सन्तों को प्रेम करता है, वह सबको प्रेम करता

है। जो परमात्मा को प्रेम करता है, वह सबको प्रेम करता है और जो अपने को प्रेम करता है, वह सबको प्रेम करता है। और भाई, जो परमात्मा को प्रेम नहीं करता, सन्तों को प्रेम नहीं करता, अपने को प्रेम नहीं करता; सच पूछो तो वह किसी को प्रेम नहीं करता।

इसलिए मेरा यह निवेदन था कि अगर आपको अपना कल्याण चाहिए, तो आप ही के ज्ञान से जो बात प्रत्यक्ष है, स्वतः सिद्ध है, उसके अनुसार ममता तोड़ दो और कामना छोड़ दो; संसार से सम्बन्ध तोड़ दो और अपना अधिकार छोड़ दो। यह तीन बातें हैं–(१) अपना अधिकार छोड़ दो, पर अपना कर्त्तव्य मत छोड़ दो ! (२) अपनी ममता तोड़ दो, लेकिन आदर और प्यार देना मत छोड़ दो ! (३) कामना छोड़ दो, लेकिन उदारता मत छोड़ दो।

आज की दशा क्या है ? ममता तोड़ने के लिए सेवा करना छोड़ देते हैं। कामना छोड़ने के लिए लोग संसार को बुरा समझने लगते हैं। यह मत करो भाई। ममता तोड़ दो, कामना छोड़ दो, संसार से अपना सम्बन्ध तोड़ दो और अपना अधिकार छोड़ दो। लेकिन कर्त्तव्य मत छोड़ो, सेवा मत छोड़ो। जिसकी जो भी सेवा बन सके, सेवा करते रहो। जहाँ रहो, वहीं सेवा करते रहो। देखो, करुणा और चीज है, दुखी होना और चीज है। दुखी होने से तो शक्ति क्षीण होती है और करुणा से शक्ति जाग्रत होती है। सेवा में करुणा की आवश्यकता है, दुखी होने की नहीं।

सती माँ के जीवन की घटना मुझे याद है। जिस परिवार में वे बहू बनकर आई थीं, उस परिवार की वे खूब सेवा करती थीं। वे भगवान् में अटूट विश्वास रखतीं और शरीर से खूब परिश्रम करतीं। वे परिवार से बाहर कभी नहीं गईं, वन में तप करने के लिए कभी नहीं गईं। उन्होंने घर में रहकर परिवार की बड़ी सेवा की। उनके जेठ के बड़े लड़के की अंगुली में फोड़ा हो गया था। लड़के के मुँह से निकला–"काकी साहिबा, अब मुझसे तकलीफ सही नहीं जाती।" सती माँ इतनी करुणित हो गईं कि उस लड़के का फोड़ा अच्छा हो

गया और उनकी अपनी अंगुली में फोड़ा हो गया। उसका उन्होंने इलाज नहीं कराया। केवल गरम लोहे से दाग दिया और फोड़ा अच्छा हो गया।

तो मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता हूँ कि भगवान् को पाने के लिए आपको वन में नहीं जाना है, परिस्थिति नहीं बदलनी है। जिस परिस्थिति में आप हैं, उसी परिस्थिति में आपको अपने प्रियजनों की ईमानदारी से सेवा करनी है, ममता और आसक्ति को छोड़कर। संसार की ओर से मान और भोग मिलने की जो परिस्थिति आती है, यह अपनी ही लोक–वासना की कामना का फल है। संसार की ओर से जो अनादर मिलता है, यह अपनी भूल का ही परिणाम है। वास्तव में संसार अपनी ओर से न किसी को मान देता है और न किसी का अनादर करता है। तुम्हारी लोकवासना की पूर्ति के लिए वह मान देता है और तुम्हारी भूल दिखाने के लिए अनादर करता है।

मैं आपसे यह निवेदन करना चाहता था कि अगर आपको परमात्मा प्राप्त करना है और अपना कल्याण करना है यानी मोह से रहित होना है, लोभ से रहित होना है, मायाजाल से रहित होना है; तो जिनके साथ रहो, उनको खूब आदर दो, प्यार दो और उनकी सेवा करो। सेवा करने से कोई फँसता नहीं है। प्यार करने से कोई फँसता नहीं है। आदर करने से कोई फँसता नहीं है। बच्चों की सेवा करने से मोह में नहीं फँसोगे, बल्कि मोह नाश होगा। परिवार की सेवा करने से परिवार का मोह नाश होगा। ऐसे ही संस्था की सेवा करने से संस्था का मोह और समाज की सेवा करने से समाज का मोह नाश हो जाएगा। मोह का नाश होने से अपना कल्याण होता है।

हिमालय की कन्दरा में घुस जाने से अपना कल्याण नहीं होता। आँख बन्द करने से, कान बन्द करने से, श्वाँस रोकने से अपना कल्याण नहीं होता। मोह–रहित होने से अपना कल्याण

होता है। मोह–रहित कब होते हैं ? जब अपने ही ज्ञान के द्वारा अपने ही शरीर से ममता तोड़ देते हैं। यानी अपने शरीर को भी अपना नहीं मानते। लेकिन शरीर की भी बच्चों की भाँति सेवा करते हैं। शरीर की सेवा होती है, हितकर खुराक देने से तथा संयमित आहार–विहार से। शरीर की सेवा भी भगवत् पूजा है। परिवार की सेवा भी भगवत् पूजा है।

देश की सेवा भी भगवत् पूजा है। सेवा जो है, वह भगवान् की ही पूजा है। तो जो सेवा करता है, जो पूजा करता है, वही मुक्ति पाता है और वही भक्ति पाता है। क्योंकि सेवा करने से राग का नाश हो जाता है और मोह का नाश हो जाता है। जब राग और मोह का नाश हो जाता है, तब देह के रहते हुए देह से असंगता का बोध हो जाता है। जिसका देह से सम्बन्ध टूट जाता है, उसका संसार से भी सम्बन्ध टूट जाता है। और जो देह से सम्बन्ध रखता है, वह चाहे कितना ही तपस्वी हो, कितना ही दानी हो, उसकी कितनी ही अच्छी परिस्थिति क्यों न हो, उसका संसार से सम्बन्ध नहीं टूट सकता।

संसार से सम्बन्ध जोड़ने वाला कौन सा कारण है ? वह है, देह का सम्बन्ध। जो देह को अपनी करके नहीं जानता, भला उसका सम्बन्ध संसार से कैसे रहेगा ? रहता ही नहीं। इसलिए सम्बन्ध तोड़ने के लिए यह पाँच बातें आवश्यक हैं– (१) शरीर मेरा नहीं है, (२) शरीर पर मेरा अधिकार नहीं है, (३) शरीर से मेरा सम्बन्ध नहीं है। (४) मुझे कुछ नहीं चाहिए (५) मुझे अपने लिए कुछ नहीं करना है।

जिसे अपने लिए कुछ नहीं करना होता है, वही सेवा कर पाता है। जिसे अपने लिए भी करना होता है, वह सेवा के अन्त में भोग में फँसता है, मान में फँसता है, बड़ाई में फँसता है। वह लीडरी के अन्त में मिनिस्ट्री में फँसता है।

तो मेरा निवेदन केवल इतना ही था कि आप चाहें जिसकी

सेवा करें, लेकिन सेवा का अन्त त्याग में होना चाहिए। जब सेवा का अन्त त्याग में होगा, तब त्याग का अन्त बोध में होगा और बोध का अन्त प्रेम में होगा।

देखिए, शरीर के सम्बन्ध से ही कर्म का आरम्भ होता है। शरीर के सम्बन्ध से ही चिन्तन का आरम्भ होता है। समाधि तक शरीर का सम्बन्ध बना रहता है। निर्विकल्प स्थिति में कारण शरीर से सम्पर्क रहता है। सार्थक चिन्तन में सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध रहता है। पुण्य कर्म में स्थूल शरीर से सम्बन्ध रहता है। यह कर्म, चिन्तन और स्थिति शरीर के सम्बन्ध से ही सिद्ध होते हैं। इसलिए जिसने शरीर से सम्बन्ध तोड़ दिया, उसके द्वारा होने वाला कर्म उसे बाँधेगा नहीं, उसके द्वारा होने वाला चिन्तन उसे बाँधेगा नहीं, उसके द्वारा होने वाली स्थिति उसे बाँधेगी नहीं।

मैं यह निवेदन कर रहा था कि अगर आपको अपना कल्याण अभीष्ट है, तो कर्म, चिन्तन और स्थिति से असंग हो जाएँ, अभी हो जाएँ और अपने द्वारा हो जाएँ। यह निज ज्ञान के आदर से ही होता है। बहुत से लोग कहते हैं कि गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता। मैं कहता हूँ कि आपका ज्ञान ही तो आपका गुरु है, और कोई गुरु थोड़े ही है। जो तुम्हारा ज्ञान है, वही गुरु है। तुम्हारी जो आस्था है, तुम्हारी जो श्रद्धा है, तुम्हारा जो विश्वास है, उसी से भगवान् मिलेगा।

मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि ज्ञान रूपी गुरु और श्रद्धा, विश्वास रूपी गुरु आपको मिला हुआ है। आपका गुरु आप ही में है, आपसे दूर नहीं है। जो भी महापुरुष हुए, उन्होंने अपने ज्ञान का आदर किया और अपनी श्रद्धा में विकल्प नहीं किया। मैं कहता हूँ कि भगवान् में श्रद्धा, विश्वास बिना किए, देखें कैसे भक्ति मिल जाएगी ? अपने ज्ञान का आदर किए बिना, देखें कैसे मुक्ति मिल जाएगी ? बल का सदुपयोग किए बिना, कैसे आप धर्मात्मा हो जाएँगे ? नहीं हो सकते।

शुद्धबोध माता जी से मैंने कहा कि माताजी ! मेरे हर्ष का सबसे बड़ा सुन्दर दिन वह होगा, जब मैं आपसे मिलना चाहूँगा और आप कहेंगी कि मुझे आपकी जरूरत नहीं है। गुरु की सबसे बड़ी भक्ति यह है कि गुरु मिलना चाहे और शिष्य कहे कि जरूरत नहीं है। क्योंकि जिसने गुरु की बात को अपनाया, उसमें गुरु का अवतरण हो जाता है।

मुझे अपने जीवन की घटना मालूम है कि जब हमारे गुरु महाराज का स्थूल शरीर नाश होने जा रहा था, तब मेरे मुँह से निकला–"महाराज जी ! मैं चाहता था कि आपका शरीर कुछ दिन और रहता।" तो गुरुजी ने बड़े ही धीरज से कहा–"देख भैया ! मेरे अनेकों शरीर हैं। जब जरूरत होगी, मैं मिल जाऊँगा।" और ऐसी अनेकों घटनाएँ घटीं कि जब भी मुझे जरूरत पड़ी, तब वे प्रकट होकर अपना प्रकाश दे गए। तो सच्चा गुरु और सच्चा गुरु–भक्त एक होकर रहते हैं।

गुरु–भक्त गुरु के हाड़–माँस की ओर नहीं देखता, बाहर की ओर नहीं देखता। वह तो गुरु का जो प्रकाश है, उसी से ज्ञान प्राप्त करता है और प्रभु में आस्था–श्रद्धा रखता है। तथा प्राप्त बल का सदुपयोग करने की प्रेरणा लेता है। सत्पुरुषों में जीवन का सत्य प्रकाशित होता है। उनका बाह्य क्रिया–कलाप उनका असली रूप नहीं है। उनमें जो उदारता है, समता है और प्रियता है, यही उनका असली रूप है।

हम सब मानव होने के नाते अपने ज्ञान के प्रभाव से मुक्ति का आनन्द ले सकते हैं और श्रद्धा–विश्वास से भक्ति का आनन्द ले सकते हैं। तो महानुभाव ! किसी को बुरा न समझने के समान और कोई उदारता नहीं है। अचाह और अप्रयत्न होने के समान और कोई अध्यात्म उन्नति का साधन नहीं है। आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक शरणागत होने के समान और कोई प्रभु–प्राप्ति का साधन नहीं है।

तो मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही था कि आप उतना

जानते हैं कि जितना जानना चाहिए और आप उतना कर सकते हैं कि जितना करना चाहिए। आप अपने पर भरोसा कीजिए और मानव–जीवन के महत्त्व को अपनाइए। आप सच मानिए, संसार में जितने महापुरुष हैं, उन सबकी सद्‌भावना आपके साथ रहेगी, जगत् की उदारता आपके साथ रहेगी और प्रभु की कृपालुता आपके साथ रहेगी।

यह हो नहीं सकता कि आप सच्चाई की तरफ आगे बढ़ना चाहें और जगत् आपकी सहायता न करे और प्रभु की कृपालुता आपके साथ न रहे। हर भाई, हर बहन जिस समय सत्संगी होकर साधननिष्ठ होने की तैयारी करता है, उसी समय से चराचर जगत् हर्ष मनाता है और अपनी उदारता से आवश्यक कार्य पूरा करता है। इसमें मुझे लेशमात्र भी संदेह नहीं है।

तो मैं आपसे यह निवेदन कर रहा था कि हम और आप यह आवश्यकता अनुभव करें कि वह कौन सी घड़ी होगी, जब हमारा हृदय पर–पीड़ा से भर जाएगा ! वह कौन सी घड़ी होगी, जब हम शरीर और संसार से असंग हो जायेंगे ! वह कौन–सी घड़ी होगी, जब हृदय प्रभु–प्रेम से भर जाएगा ! इसको कहते हैं, प्रार्थना।

महानुभाव ! प्रार्थना इसलिए नहीं की जाती कि आप कहेंगे, तब परमात्मा सुनेंगे। प्रार्थना का असली रूप है, अपनी आवश्यकता का ठीक–ठीक अनुभव करना। यह आवश्यकता अनुभव करो कि मुझे प्रभु–प्रेम चाहिए ! मेरा जीवन सेवा–परायण हो जाए, मुझे असंगतापूर्वक अमर जीवन मिल जाए ! तो अमर जीवन की प्राप्ति की माँग, उदारता की माँग, प्रभु–प्रेम की माँग हमारे जीवन में रहनी चाहिए।

प्रार्थना शब्दों द्वारा नहीं की जाती। प्रार्थना का मतलब है, अपनी जरूरत की विस्मृति न हो। बल्कि सारी इच्छाएँ गलकर अपनी इस जरूरत में विलीन हो जाएँ कि मुझे प्रभु–प्रेम चाहिए, मुझे स्वाधीनता चाहिए, मुझे उदारता चाहिए। यानी जीवन जगत् के

लिए, अपने लिए और प्रभु के लिए उपयोगी हो जाए। इस प्रकार की जो माँग है, उसी का नाम प्रार्थना है।

आप सच मानिए, जिस समय सर्व समर्थ प्रभु यह देख लेंगे कि तुम शान्ति के बिना नहीं रह सकते, तुम सेवा के बिना नहीं रह सकते और तुम प्रभु–प्रेम के बिना नहीं रह सकते, उसी समय वे सर्वसमर्थ तुमको सेवा का बल देंगे, त्याग का बल देंगे और अपना प्रेम प्रदान करेंगे।

मैं अपने जीवन की एक घटना आपके सामने रखना चाहता हूँ। एक बार मैं बहुत दुखी हो गया था। मुझे क्या दुःख था कि संसार मुझे यथेष्ट स्थान नहीं देता। इस दुःख में बैठकर सोचने लगा कि भाई संसार किसका ? जो उसके काम आए उसका। संसार मुझे स्थान नहीं देता, तो इसका अर्थ है कि मैं संसार के काम नहीं आया। इसमें संसार का कोई अपराध नहीं है।

देखिए, जब साधक सच्चाई की ओर चलता है, तो उसे सबसे पहले अपनी भूल का दर्शन होता है और दूसरों के निरपराध होने का भी दर्शन होता है। तो मुझे तुरन्त मालूम हो गया कि इसमें संसार का कोई अपराध नहीं है, दोष नहीं है। मैं अगर उसके काम आ जाता, तो वह मुझे यथेष्ट स्थान देता, आदर और प्यार देता। क्योंकि मैं उसके काम नहीं आया, इसलिए उसने मुझे आदर और प्यार नहीं दिया।

जब मनुष्य किसी दूसरे को अपराधी नहीं मानता, तब उसे अपने अपराध का स्पष्ट रूप से दर्शन हो जाता है। मुझे अपने अपराध का दर्शन हुआ कि मैं संसार के काम नहीं आया। यह मेरा ही तो अपराध है। मैंने सोचा कि मैं संसार के काम क्यों नहीं आ सका ? तो मुझे पता चला कि मैं अचाह नहीं हुआ था। यदि मैं अचाह हो जाता, तो मैं संसार के काम आने लगता। अचाह ही संसार के काम आता है।

उसके बाद मुझे तुरन्त प्रेरणा मिली कि हे संसार देवता ! तुम मुझे इसलिए पसन्द नहीं करते कि मैं तुम्हारे काम नहीं आया। पर दोस्त ! तुम भी तो मेरे काम नहीं आए। अब मुझमें समता आ गई। पहले मैं अपने को अपराधी मानता था और जगत् को भी अपराधी मानता था। परन्तु समता आ जाने पर अपराधी भाव का अन्त हो गया। मैंने कहा कि हे संसार देवता ! मैं तुम्हारे काम नहीं आया और तुम मेरे काम नहीं आए। अब किसी से कोई शिकायत नहीं।

तो आज यदि हम सब यह निर्णय कर लें कि आज से सुनने वालों की खुशी के लिए बोलेंगे, खिलाने वालों की खुशी के लिए खायेंगे, मिलने वाले की प्रसन्नता के लिए मिलेंगे, तो बताओ आपने इनमें कौन सा तप किया ? जो सत्य सामने आया, उसे अपनाया। इस सत्य के अपनाने से आप अचाह हो जायेंगे और जगत् के काम आयेंगे।

आप लोग मेरी बात सुनना चाहते हैं, तो इसमें मेरी कोई विशेष विशेषता नहीं। यह तो आपकी और जगत् की उदारता है, सत्पुरुषों की सद्भावना है और प्रभु की कृपालुता है। प्रभु की कृपालुता से मुझे यह प्रकाश मिला कि मैं हर्षपूर्वक उसके बिना रह सकता हूँ, जो मेरे बिना रह सकता है। इस बल के आने से साधक सेवा करने में समर्थ हो जाता है।

महानुभाव ! सेवा करते जाओ, त्याग को अपनाते जाओ और प्रेम की भूख बढ़ाते जाओ। यह तीनों चीजें साथ–साँथ चलेंगी। करो सेवा, त्याग को अपनाओ और प्रभु–प्रेम की भूख बढ़ाओ। जैसे–जैसे जीवन में प्रेम की भूख बढ़ती जाएगी और जैसे–जैसे त्याग पुष्ट होता जाएगा, वैसे–ही–वैसे सेवा सजीव होती जाएगी। फिर हमारा और आपका सर्वतोमुखी विकास हो जाएगा।

आप भी कोशिश करें और प्रार्थना करें। चाहे परमात्मा को मान कर प्रार्थना करें, चाहे परमात्मा को बिना माने प्रार्थना करें और चाहे आवश्यकता अनुभव करें कि जीवन सेवा से, त्याग से, और

प्रभु-प्रेम से परिपूर्ण हो जाए ! इस आवश्यकता के अनुभव करने से ही आप में वह सामर्थ्य आ जाएगी कि जिससे आप सेवा कर सकेंगे, आप त्यागी हो सकेंगे, और आप प्रेमी हो सकेंगे। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

महानुभाव ! मेरी कटुतापूर्ण वाणी से यदि आपको क्षोभ हुआ हो, तो मैं क्षमा चाहता हूँ। मैंने आपके दुःख से दुखी होकर, आपकी बेबसी को देखकर, आपकी असमर्थता को देखकर, आपका अपने आप पर अविश्वास देखकर, प्रभु में अविश्वास देखकर आपके सामने यह व्यथा प्रकट कर दी। इस पर भी यदि किसी महानुभाव को बुरा लगा हो, तो मैं क्षमा चाहता हूँ और इसी भावना से प्रणाम करता हूँ कि आप अगर इस प्रार्थना-स्थली में सही रूप में अपनी प्रार्थना को अपनाएँगे और सेवा, त्याग, प्रेम की आवश्यकता अनुभव करेंगे, तो आपका जीवन सेवा से परिपूर्ण हो जाएगा, त्याग से परिपूर्ण हो जाएगा और प्रेम से भी परिपूर्ण हो जाएगा। आप अपने प्राणों के रहते-रहते अपने जीवन को जगत् के लिए, अपने लिए और प्रभु के लिए उपयोगी पायेंगे। इसी सद्भावना के साथ मैं आपको प्रणाम करता हूँ।।ॐ।।

४२ (अ)

प्रवचन :

मेरे निज स्वरूप उपस्थित महानुभाव !

प्रातःकाल का सत्संग साधन–निर्माण के लिए होता है। अपने जाने हुए असत् के त्याग मात्र से ही साधन का निर्माण बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो सकता है। क्योंकि समस्त साधनों की अभिव्यक्ति अपने जाने हुए असत् के त्याग और सत् के संग में ही निहित है। परन्तु हमारे जीवन पर हमारे ही जाने हुए का प्रभाव नहीं होता। यदि जाने हुए का प्रभाव हो जाए, तो साधन–निर्माण में कोई कठिनाई नहीं होती, अपितु स्वाभाविकता आ जाए। स्वाभाविकता का अर्थ यह है कि साधन में इतनी प्रियता हो जाए कि साधन के बिना हम किसी प्रकार न रह सकें। किन्तु सबसे बड़ा जो दुःख है वह केवल इस बात का है कि अपने जाने हुए का ही अपने ऊपर प्रभाव नहीं होता। इस निर्बलता का नाश होने पर बड़ी ही सुगमतापूर्वक प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन अपने साधन का निर्माण कर सकते हैं।

साधन–निर्माण होते ही साधक में तत्परता आ जाती है। जैसे–जैसे तत्परता बढ़ती जाती है, वैसे–ही–वैसे साधक का जो अस्तित्व है, वह साधन में विलीन होता जाता है। जैसे–जैसे साधक का अस्तित्व साधन में विलीन होता जाता है, वैसे–ही–वैसे साधन और साध्य से अभिन्नता होती जाती है। जिस समय साधक का अस्तित्व सर्वांश में साधन में विलीन हो जाता है, उसी समय अनेक साधन एक ही साधनतत्त्व में विलीन हो जाते हैं। आप कहेंगे कि साधन और साधनतत्त्व में अन्तर क्या है ? तो एक बड़ा अन्तर यह है कि साधन व्यक्तिगत होता है और साधनतत्त्व सामूहिक होता है। अर्थात् साधनतत्त्व सभी का एक है।

वह साधनतत्त्व क्या है ? साधनतत्त्व है, अपने साध्य की

अगाध, अनन्त, नित–नव प्रियता। तात्पर्य क्या निकला ? हम सबको किसी की प्रियता होना है। किसकी प्रियता ? जो हमारा साध्य है। यह प्रश्न नहीं है कि आपका साध्य क्या है ? यह तो आप जानें। इससे हमें कोई मतलब नहीं। किन्तु आपकी प्रियता अपने साध्य में है या नहीं ? जीवन में जो मूल्य है, वह प्रियता का है।

आप देखेंगे कि संसार में जितने भी लोग हुए, जिनको आप बड़े आदमी कहते हैं, उन सबमें किसी की प्रियता का आपको दर्शन होगा। चाहे मीरा होकर गिरधर की प्रियता हो, चाहे कबीर होकर निर्विशेष तत्त्व की प्रियता हो, चाहे जिज्ञासु होकर तत्त्व में प्रियता हो, चाहे भक्त होकर भगवान् में प्रियता हो, चाहे व्यक्ति होकर समाज में प्रियता हो और चाहे शरीर होकर विश्व में प्रियता हो। सभी महापुरुषों में आप यह चीज देखेंगे कि उनमें अपने साध्य की प्रियता है।

यह प्रियता किसी वस्तु के द्वारा प्राप्त नहीं होती, किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा भी प्राप्त नहीं होती। मुझे तो यह कहने में भी संकोच नहीं लगता कि किसी अभ्यास के द्वारा भी प्रियता प्राप्त नहीं होती। यदि वस्तु के द्वारा प्रियता प्राप्त होती, तो प्रियता आज अमेरिका में कैद दिखाई देती, और कहीं देखने को भी नहीं मिलती। क्योंकि अमेरिका के पास बहुत सी वस्तुएँ हैं। यदि बल के द्वारा प्रियता प्राप्त होती, तो रूस के पास कैद होती। बुद्धिमानी से, सज्जनता से अगर प्रियता प्राप्त होती, तो मैं समझता हूँ कि अँग्रेजी सरकार को मिलती। यदि आलस्य और बात बनाने से प्रियता प्राप्त होती, तो मुझे मिलती। किन्तु इन सब बातों से प्रियता नहीं मिलती।

प्रियता का जो वास्तविक मूल्य है, वह है आत्मीयता–अपनापन। जहाँ हमारा अपनापन हो जाता है, वहाँ प्रियता उदय होती है। अब यह जो अपनापन है, वह कैसे सुरक्षित रहता है ? इस पर थोड़ा विचार करो। अपनापन सुरक्षित रहता है, चाह–रहित होने से, अपनापन सुरक्षित रहता है, जो कुछ अपने पास है, उसको दे डालने

से। अपनापन सुरक्षित रहता है, नित्य सम्बन्ध से। अपनापन सुरक्षित रहता है, जातीय एकता से। यह सब बातें अपनेपन को सुरक्षित रखने में हैं।

आप विचार करें कि हमारी जातीय एकता किसके साथ है ? जातीय एकता का अर्थ यह नहीं कि कोई कहे कि साहब, हम ब्राह्मण हैं, तो ब्राह्मणजाति से हमारी एकता हो गई। जातीय एकता उसी से हो सकती है कि जिससे हमारे और उसके बीच में स्वरूप की भिन्नता न होने पाए।

स्वरूप की भिन्नता का मतलब क्या है ? जैसे कल्पना करो कि किसी भाई से, किसी बहन से यह पूछा जाए कि आप वही हैं जो पच्चीस वर्ष पहले हमको अमुक स्थान पर मिले थे ? वह कहेगा कि जी, मैं वही हूँ। जैसे हम देवकी जी से पूछें कि आप सन् १९४४ में हमको शुक्लाजी के घर पर मिली थीं, क्या आप वही हैं ? तो वे कहेंगी कि मैं वही हूँ। फिर थोड़ी देर बाद पूछें कि आप क्या करती हैं ? तो वे कहेंगी कि मैं प्रोफेसर हूँ। उस समय क्या करती थीं ? बोलीं, मैं तब विद्यार्थी थी।

परिवर्तन किसमें हुआ ? मैं विद्यार्थी थी, इसमें परिवर्तन हुआ कि मैं वही हूँ, इसमें परिवर्तन हुआ ? जातीय एकता के सम्बन्ध में यह उदाहरण दे रहा हूँ। जातीय एकता के सम्बन्ध में आप विचार करें कि मैं वही हूँ, इसमें परिवर्तन नहीं हुआ। किन्तु मेरी आज यह परिस्थति है और कल वह थी। परिस्थिति में परिवर्तन हुआ, शरीर में परिवर्तन हुआ, भावना में परिवर्तन हुआ, विचारों में परिवर्तन हुआ, वस्तुओं में परिवर्तन हुआ। लेकिन क्या मुझमें परिवर्तन हुआ ? नहीं।

अतः हम सबको यह मानना पड़ेगा कि भाई, अपने में परिवर्तन नहीं हुआ। अवस्था में परिवर्तन हुआ, परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ, वस्तुओं में परिवर्तन हुआ। तो जिसमें परिवर्तन होता है, वह उसकी जाति का नहीं हो सकता, जिसमें परिवर्तन नहीं होता। अथवा यों कहो कि जिसमें परिवर्तन नहीं होता, उसकी उससे जातीय एकता

नहीं हो सकती कि जिसमें परिवर्तन हो। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि हमारी–आपकी सभी की किसी वस्तु से जातीय एकता नहीं है, किसी अवस्था से जातीय एकता नहीं है, किसी परिस्थिति से जातीय एकता नहीं है।

तो फिर किससे हमारी जातीय एकता हो सकती है ? जिसका परिवर्तन न हो। अब आप विचार करके देखें कि जो कुछ इन्द्रियों के ज्ञान से देखने में आता है, बुद्धि के ज्ञान से जो कुछ देखने में आता है, उसमें आपको क्या ऐसी कोई वस्तु मालूम होती है कि जिसमें परिवर्तन न हो। अगर हम और आप स्वयं अपने ज्ञान का आदर करें, तो हमको–आपको सबको ईमानदारी से कह देना पड़ेगा कि ऐसी वस्तु इन्द्रियों के द्वारा, बुद्धि के द्वारा अब तक देखने में नहीं आई कि जिसमें परिवर्तन न हो।

तात्पर्य क्या निकला ? संसार से हमारी जातीय एकता नहीं है। संसार है या नहीं, इस पर हम आज विचार नहीं कर रहे हैं। किन्तु इस बात पर विचार कर रहे हैं कि संसार से हमारी जातीय एकता नहीं है। तो फिर किस प्रकार की एकता है ? मानी हुई एकता है। मानी हुई एकता के नाते हमारे पास जो कुछ संसार की वस्तु है वह उसको भेंट करना है, आदरपूर्वक उसकी सेवा में लगा देना है।

तो मानी हुई एकता से कर्त्तव्य का जन्म हुआ। किन्तु यह निर्विवाद सिद्ध है कि हम और हमारा संसार जातीय रूप से एक नहीं हैं, दोनों एक जाति के नहीं हैं। इसी को आप अपने जीवन में देखें, तो हम और हमारा शरीर, इन दोनों में जातीय एकता नहीं है। हम और हमारे प्राण, हम और हमारी बुद्धि, हम और हमारी इन्द्रियाँ, हम और हमारा मन एक जाति के नहीं हैं। तो जिससे जातीय एकता नहीं है, उसकी सेवा की जा सकती है। उससे ममता नहीं की जा सकती। यह बड़े रहस्य की बात है।

आज होता क्या है ? आज हम कुटुम्बीजनों की सेवा नहीं

करेंगे, पर उनसे ममता करेंगे। अरे, ममता करते हो; सेवा क्यों नहीं करते ? आप सेवा तो तब करें, जब स्वयं उनसे सुख की आशा न रखें। आज हमारी दशा क्या हो गई ? जिनके साथ हम रहते हैं जो हमारे साथ रहते हैं, उनसे सुख की आशा करेंगे, उनसे ममता रखेंगे, पर उनकी सेवा नहीं करेंगे। यह क्या है ? यह असाधन है।

असाधन कोई बाहर से नहीं आता, किसी और ने हमारे ऊपर नहीं लाद दिया। हमने स्वयं अपने जीवन में असाधन को स्थान दिया है। हमारा असाधन यह है कि जिनसे हमारी मानी हुई एकता है, जातीय एकता नहीं है, उनकी सेवा करने में हम हिचकते हैं। उनको आदर देने में हिचकते हैं, उनको प्यार देने में हिचकते हैं। किन्तु उनसे सुख की आशा करने में नहीं हिचकते, उनसे ममता करने में नहीं हिचकते। तो भाई, सुख की आशा और ममता, यह क्या है ? यह असाधन है।

संसार ने आपको शरीर रूपी वस्तु दी है, योग्यता दी है, सामर्थ्य दी है, ज्ञान–विज्ञान और कला दी है। कौन सा ज्ञान ? इन्द्रियजन्य ज्ञान, बुद्धिजन्य ज्ञान। कौन सी कला ? जिससे जीवन में सुन्दरता आती है। कौन सा विज्ञान ? वस्तुओं के उपयोग वाला विज्ञान। यह सब हमको संसार से मिला है, यह मानना ही पड़ेगा। यह सब संसार की देन है। तो यह जो संसार की देन है, उसके द्वारा संसार की पूजा कर दो। जैसे, कोई गंगाजल से गंगा की पूजा कर दे, तो इसमें क्या खर्च होता है भैया ? सोचो तो सही।

यदि हम संसार की दी हुई वस्तु के द्वारा संसार की सेवा नहीं कर सकते, तो इससे बढ़कर और कोई बेईमानी हो ही नहीं सकती। और इससे बढ़कर और कोई साधन नहीं हो सकता कि आपकी दी हुई वस्तु से ही हम आपकी पूजा कर दें। इससे बढ़कर और कोई सुगम साधन हो सकता है क्या ?

आपका ही सम्बन्धी–साथी चाहे पत्नी के रूप में हो, चाहे माता के रूप में हो और चाहे बहन के रूप में हो, जिस समय वह

आपकी ही कमाई हुई, आपकी ही लाई हुई वस्तु प्रीति पूर्वक आपके सामने रखती हैं, तब आपको रस आता है कि नहीं ? और जब आप अपने हाथ से उठाकर लें, तब कितना रस आता है ? ऐसे ही विधिवत्, साधनरूप से किया कार्य सुखद और शान्ति देने वाला होता है और असाधन रूप से किया कार्य दुःखद और अशांति देने वाला होता है। वास्तविकता तो यह है कि जीवन का कोई क्षण असाधन में न बीते।

इससे क्या सिद्ध हुआ ? साधन जीवन हो, जीवन साधन हो। साधन और जीवन में विभाजन हो ही नहीं सकता। जगत् की दी हुई वस्तु आदरपूर्वक, प्यारपूर्वक, ईमानदारी से, विधिवत् जगत् को दे दो। विधिवत् का अर्थ है, उचित ढंग से। जैसे, रोगी को रोगी का भोजन दो, स्वस्थ को स्वस्थ का भोजन दो। सेवा में विधि का भी एक स्थान है।

आज की दशा क्या है ? अपनी अयोग्य सन्तान के लिए लाखों रुपये जमा करेंगे और पड़ोसी की योग्य सन्तान की सहायता नहीं करेंगे। जबकि ईमानदारी इसी में है कि अपनी अयोग्य सन्तान की अपेक्षा पड़ोसी की योग्य सन्तान को सहयोग दें। यदि अपना भी लड़का योग्य हो और पड़ोसी का लड़का भी योग्य हो, तो उस समय अपने लड़के को पहले दो; क्योंकि उसका अधिकार पुत्र के नाते पहले आता है। इसमें कोई पाप नहीं लगता। लेकिन अपने अयोग्य लड़के के लिए सब कुछ और पड़ोसी के योग्य लड़के के लिए कुछ नहीं। यह तो भाई, असाधन है।

जिस सुख का प्रलोभन चित्त में अंकित है और जिसे विचार से नहीं मिटा सकें, उस प्रलोभन के मिटाने के लिए जीवन में कुछ भाग सुखकर प्रवृत्ति का है। अधिकतर भाग तो जीवन में हितकर और रुचिकर प्रवृत्ति का है। सुख की वास्तविकता जानने के लिए सुखकर प्रवृत्ति का महत्त्व है। हितकर प्रवृत्ति का त्याग नहीं होता और न हितकर प्रवृत्ति के बारे में यह सोचना पड़ता है कि करें कि न करें।

हितकर प्रवृत्ति अपने आप निवृत्ति में विलीन हो जाती है। कब निवृत्ति में विलीन होती है ? जब कर्त्तापन नहीं रहता।

भाई, साधन का अर्थ यह कभी नहीं है कि हम वह साधन करें कि जो हमारे जीवन से कभी भी अलग हो सके। जगना, उठना, बैठना, सोना, खाना–पीना, मिलना–जुलना आदि जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं जीवन में, उनमें से कोई भी प्रवृत्ति ऐसी नहीं होनी चाहिए कि जो साधनरूप न हो। साधनरूप प्रवृत्ति की कसौटी यह है कि जो अपने लिए प्रसन्नता देने वाली हो और संसार के लिए हितकर सिद्ध होती हो। कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी भी होती हैं, जो अपने लिए प्रसन्नता देने वाली होती हैं और दूसरों के लिए न तो हितकर होती हैं और न अहितकर; वे भी साधन रूप के अन्तर्गत आ सकती हैं। लेकिन जो प्रवृत्तियाँ अपने लिए सुखद हों और दूसरों के लिए दुःखद हों, वे कभी भी साधनरूप नहीं हैं।

'सन्त–समागम' पुस्तक में एक जगह लिखाया है किसी घटना के अर्थ में। कोई घटना घटी थी, उससे जो मुझे प्रकाश मिला, उसके अनुसार लिखाया था कि जो सुख किसी का दुःख बनकर आता है, वह कालान्तर में घोर दुःख बन जाता है। और जो दुःख किसी के हित के लिए आता है, वह हमें आनन्द से अभिन्न कर देता है। इस वाक्य को पढ़कर प्रिंसिपल वर्माजी ने हमें चिट्ठी लिखी कि इस वाक्य के आधार पर कई ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं और जीवन की सभी समस्याएँ हल हो सकती हैं।

तो मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि साधन कोई बोझा नहीं है। आज साधक ध्यान से उठकर कहता है कि अब मुझे विश्राम मिलेगा। वह भी कोई ध्यान है, जो ध्यानकाल में विश्राम का हेतु न हो ? माला पूरी हो गई, तो मानो जेल से बाहर आ गये। जरा सोचो, वह भी कोई भजन और चिन्तन है, जो भजन–काल में विश्राम का हेतु न हो ?

इस प्रकार की जो साधन प्रणाली हमारे–आपके जीवन में है,

यह तो साधन के नाम पर असाधन का पोषण है। भाई, साधन का अर्थ यह कभी नहीं है कि हमारा साधन हमारे लिए लेशमात्र भी अस्वाभाविक सिद्ध हो, अरुचिकर हो और हमारी सामर्थ्य के अनुरूप न हो। साधन अत्यन्त रुचिकर होना चाहिए। क्योंकि यदि रुचिकर साधन नहीं होगा, तो उसमें हमारा पूरा जीवन नहीं लगेगा। साधन उसे कहते ही नहीं कि जिसमें पूरा जीवन न लग जाए।

ऐसा साधन हमें कब प्राप्त होगा ? भाई, ऐसा साधन हमें तभी प्राप्त होगा, जब हम और आप अपने–अपने जाने हुए असत् के त्याग करने में सर्वदा तत्पर रहें। जाने हुए असत् के त्याग करने में तत्पर कब होंगे ? जब जाने हुए का प्रभाव हो। हम असत् को नहीं जानते, ऐसी बात नहीं है। हम और आप वास्तविकता को जानते हैं। लेकिन उस जाने हुए का प्रभाव कितना है जीवन में ? माने हुए का प्रभाव कितना है जीवन में ? यह देखना है।

इस बात पर प्रत्येक साधक को गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए कि जो हम जानते हैं, उसका प्रभाव क्यों नहीं है अपने जीवन में ? देखो, जब तक क्रिया–जनित सुख पर ही दृष्टि रहती है, तब तक वह अधूरी जानकारी है। भोजन में क्रिया–जनित सुख मिलता है। प्रत्येक भोग–प्रवृत्ति में रस है, पर वह अनित्य रस है। जो इस वास्तविकता को जान लेता है, उसके लिए असत् का त्याग सुगम हो जाता है। वह यह जान लेता है कि भोग का परिणाम दुःखद है। तब उस पर जाने हुए का प्रभाव हो जाता है।

देखना, सुनना, बोलना, सोचना, समझना आदि प्रवृत्तियाँ भोग ही हैं। भोग माने, प्रवृत्ति का उदय और योग माने, निवृत्ति की दृढ़ता। जहाँ निवृत्ति स्वभाव सिद्ध है यानी स्वाभाविक है, वहीं योग है। सही प्रवृत्ति से ही सहज निवृत्ति आती है और सहज निवृत्ति में योग की अभिव्यक्ति है। इसलिए विचारशील उस प्रवृत्ति को नहीं अपनाते, जो किसी के लिए भी अहितकर हो।

कर्त्तव्य–विज्ञान का एक बड़ा सुन्दर सिद्धान्त है कि हमारे

द्वारा जो दूसरों को मिलेगा, वह कई गुना अधिक होकर हमें ही मिलेगा। यानी यदि हम किसी के साथ अहितकर प्रवृत्ति करेंगे, तो उससे उसका जितना अहित होगा, उससे कई गुना अहित हमारा अपना होगा। आज हमसे सबसे बड़ी भूल यही हुई कि हम कर्त्तव्य–विज्ञान को भूल गए। हम जानते न हों, ऐसी बात नहीं। हम कर्त्तव्य–विज्ञान के विधान का अनादर करने लगे हैं। उस अनादर का परिणाम यह हुआ कि हमें जो नहीं करना चाहिए उसे करने लगे और जो करना चाहिए उसे नहीं करते। आज हमें कर्त्तव्य अस्वाभाविक और कठिन मालूम होता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि हमारी जो अधूरी जानकारी है जिसे इन्द्रियजन्य कहते हैं, उसके आधार पर हमने अपना जीवन बना रखा है। जब हम अधूरी जानकारी के स्थान पर वास्तविक जानकारी को अपनाएँगे, तो उसका प्रभाव होने लगेगा। यानी बुद्धि–जन्य ज्ञान का जब हम आदर करेंगे, तब इन्द्रिय–जन्य ज्ञान का प्रभाव मिट जाएगा और बुद्धि जन्य ज्ञान का प्रभाव होने लगेगा। तब जीवन में असाधन नहीं रहेगा।

विवेक–विरोधी कर्म असाधन है, विवेक–विरोधी विश्वास असाधन है और विवेक–विरोधी सम्बन्ध असाधन है। असाधन और कुछ नहीं। आपका जो विवेक है, आपका जो ज्ञान है, उसके विरुद्ध जब काम करते हैं, तो उसे विवेक–विरोधी कर्म कहते हैं, जो असाधन है। विवेक के विरुद्ध जब उससे सम्बन्ध जोड़ते हैं, जिससे हमारी जातीय भिन्नता है, तो इसे विवेक–विरोधी सम्बन्ध कहते हैं। यह भी असाधन है। इसी प्रकार जो नित्य नहीं है, उसमें विश्वास करना विवेक–विरोधी विश्वास है। यह भी असाधन है। जो कार्य हम अपने साथ नहीं कराना चाहते, उसे दूसरों प्रति करना विवेक–विरोधी कर्म है।

अब आप गम्भीरता पूर्वक विचार करें कि असाधन का मूल कारण क्या है ? विवेक–विरोधी कर्म, सम्बन्ध, विश्वास को अपनाना।

यह बात नहीं कि आप यह न जानते हों। आप जानते हैं कि विवेक–विरोधी कर्म नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसे अपने प्रति नहीं चाहते। क्या आप विवेक–विरोधी कर्म के आधार पर समाज में रह सकते हैं ? क्या आप विवेक–विरोधी विश्वास को सुरक्षित रख सकते हैं ? कदापि नहीं।

हाँ, यह दूसरी बात है कि जीवन में कुछ भाग ऐसा हो, जो विवेक–विरोधी हो। लेकिन कुछ भाग ऐसा भी रहता है कि जो विवेक–विरोधी नहीं है। आप देखेंगे कि कोई भी व्यक्ति सर्वांश में दोषी नहीं हो सकता, न सभी के लिए दोषी होता है और न सदा के लिए दोषी होता है।

इसलिए भाई, विवेक–विरोधी कर्म से काम चलेगा नहीं, विवेक–विरोधी विश्वास से काम चलेगा नहीं और विवेक–विरोधी सम्बन्ध से काम बनेगा नहीं। तात्पर्य क्या निकला ? हम सब विवेक–विरोधी कर्म, विवेक–विरोधी सम्बन्ध और विवेक–विरोधी विश्वास का त्याग करें। विवेक–विरोधी कर्म न हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि विवेक–विरोधी सम्बन्ध और विवेक–विरोधी विश्वास का त्याग करें। यह सिखाया जाता है कि विवेक–विरोधी कर्म मत करो। अरे भाई, जब तक जीवन में विवेक–विरोधी सम्बन्ध और विवेक–विरोधी विश्वास रहेगा, तब तक विवेक–विरोधी कर्म अवश्य बनेगा।

विवेक–विरोधी सम्बन्ध क्या है ? शरीर की ममता। यह विवेक–विरोधी सम्बन्ध है। शरीर की ममता रखते हुए आप कितने ही बड़े साधक हो जाएँ, कितने ही बड़े पुरुषार्थी हो जाएँ, कितना ही घोर तप कर लें; अगर किसी ने आपको प्रणाम नहीं किया, तो महाराज ! इतने क्रोधित हो जाएँगे कि उसका भी नाश कर बैठेंगे और अपना भी नाश कर बैठेंगे।

इसका क्या तात्पर्य निकला ? भाई, विवेक–विरोधी सम्बन्ध का त्याग पहले करना है। यदि आज हम विवेक–विरोधी सम्बन्ध का

त्याग कर देते हैं, तो हम और आप यह मानने लगेंगे कि यह शरीर हमारा नहीं है, यह प्राण हमारे नहीं हैं, यह इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि हमारे नहीं हैं। यह स्थूल शरीर हमारा नहीं है, यह सूक्ष्म शरीर हमारा नहीं है और कारण शरीर भी हमारा नहीं है।

इसका परिणाम मालूम है क्या होगा ? अगर आपने स्थूल शरीर की ममता तोड़ दी, तो शुभकर्म की आसक्ति विदा हो जाएगी और अशुभ कर्म होगा नहीं। अगर सूक्ष्म शरीर की ममता त्याग दी, तो सार्थक चिन्तन की आसक्ति मिट जाएगी और व्यर्थ–चिन्तन होगा नहीं। यदि कारण शरीर की ममता छोड़ दी, तो स्थिति की आसक्ति नहीं रहेगी। अनासक्ति अशुद्धि को खा लेती है। जब अनासक्ति अशुद्धि को खा लेती है, तब कर्म भी शुद्ध, चिन्तन भी शुद्ध और स्थिति से भी असंगता। स्थिति में शुद्ध–अशुद्ध नहीं होता।

स्थिति से असंगता हो और कर्म तथा चिन्तन में शुद्धता हो, तो बताइये, साधन बन गया कि नहीं ? साधन सिद्ध हो गया कि नहीं ? इसके लिए आपने पहले क्या किया ? विवेक–विरोधी सम्बन्ध का त्याग किया। आज दशा क्या है ? विवेक विरोधी सम्बन्ध का तो त्याग करेंगे नहीं, जोकि वर्तमान की चीज है। फिर कहेंगे कि कोठरी में बन्द होकर, गुफा में घुसकर हम ईश्वर को खरीद लेंगे। क्या इससे ईश्वर मिलेगा ? कदापि नहीं। धोखा दोगे अपने को और दुनियाँ को।

हाँ, यह तो हो सकता है कि आपके इस धोखे में आकर मेला लग जाए, चेला–चेली बन जाएँ, प्रसाद बँटने लगे, भण्डारे होने लगें, लेकिन सिद्धि नहीं होगी। सिद्धि होगी, विवेक–विरोधी सम्बन्ध के त्याग से। जिस समय आप विवेक–विरोधी सम्बन्ध का त्याग करेंगे, सच मानिए, उसी समय मोह का नाश हो जाएगा। गीता चाट गए, लेकिन महाराज ! मोह का नाश नहीं हुआ। क्यों नहीं हुआ ? विवेक–विरोधी सम्बन्ध का तो त्याग किया ही नहीं। मैं यह नहीं

कहता हूँ कि आप गीता का पाठ न करें। गीता के रचयिता से मेरा बड़ा भारी सम्बन्ध है। वे मेरे बड़े मित्र हैं। मैं गीता का बड़ा आदर करता हूँ, क्योंकि वह मेरे दोस्त की बातचीत है।

लेकिन गम्भीरता से सोचो तो सही, क्या आपने विवेक–विरोधी सम्बन्ध को तोड़ दिया या नहीं ? जब तक विवेक–विरोधी सम्बन्ध तोड़ा ही नहीं, तब तक साधन का आरम्भ ही कैसे होगा ? विवेक–विरोधी सम्बन्ध धीरे–धीरे नहीं तोड़ा जाता, सम्बन्ध के टुकड़े नहीं हुआ करते। सम्बन्ध जब टूटता है, तब एक साथ टूटता है।

आज हम और आप इस मौलिक प्रश्न को अपने सामने रखें कि विवेक–विरोधी सम्बन्ध को तोड़े बिना हम दूसरे कार्य का आरम्भ ही नहीं करेंगे। इस व्रत में चौबीस घण्टे लगातार बिताओ तो सही। अगर आपने चौबीस घण्टे लगातार इस कार्य में लगा दिए, तो आपकी वही दशा होगी, जो भगवान् बुद्ध की हुई थी। उन्होंने निर्णय लिया कि हाय–हाय ! जब तक मुझे सत्य नहीं मिलेगा, मैं यहाँ से उठूँगा ही नहीं, दूसरे कार्य का आरम्भ करूँगा ही नहीं। तो वे सत्य पा गए।

इसी प्रकार आपको भी दृढ़ निश्चय करना होगा कि विवेक–विरोधी सम्बन्ध को तोड़े बिना न खाऊँगा, न पीऊँगा, न सोऊँगा, न किसी से मिलूँगा, न किसी से बोलूँगा। फिर देखिए कि आपको सिद्धि होती है कि नहीं। अवश्य होगी, निस्संदेह होगी।

इसलिए हमको–आपको अगर सिद्धि प्राप्त करनी है, तो विवेक–विरोधी सम्बन्ध का त्याग करना होगा और सत् का संग करना होगा। विवेक–विरोधी सम्बन्ध का त्याग करने पर आप देखेंगे कि आपके जीवन में आपके जाने हुए का प्रभाव होगा। जब आपके जीवन में आपके जाने हुए का प्रभाव होगा, तब मिले हुए का सदुपयोग सुलभ हो जाएगा। जाने हुए का प्रभाव हुए बिना मिले हुए का सदुपयोग हो ही नहीं सकता। जब तक मिले हुए का सदुपयोग

नहीं हो सकता, तब तक आपका जीवन जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं होगा। यह बड़ा भारी सत्य है कि मिले हुए के सदुपयोग द्वारा ही जीवन जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

जब जीवन जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध हो जाता है, तो फिर जगत् उस जीवन की माँग करने लगता है, उस जीवन की आवश्यकता अनुभव करने लगता है, उस जीवन का अनुसरण करने लगता है। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। इसलिए भाई, हमें और आपको आज ही विवेक–विरोधी सम्बन्ध का त्याग करना है। आप कहें कि हम तो विवेक–विरोधी सम्बन्ध का त्याग नहीं करेंगे। तो भाई, जिस वस्तु से तुम्हारा सम्बन्ध है, वह वस्तु तो तुम्हारा त्याग कर ही देगी। तब तुम क्या करोगे ? जरा सोचो तो सही।

लोग कहते हैं कि त्याग बड़ा कठिन है। तो मैं आपसे पूछता हूँ कि त्याग से बढ़कर सुलभ और कोई साधन है क्या दुनियाँ में ? त्याग किसका करना है ? जो आपके बिना भी रहता है और जो आपका त्याग करता है। त्याग करने वाले का भी त्याग कठिन है क्या ? त्याग करने वाले का राग कठिन है कि त्याग करने वाले का त्याग कठिन है ? जरा विचार तो करो। त्याग करने वाले का राग असम्भव है, टिक सकता ही नहीं। त्याग करने वाले का त्याग सहज है, सुलभ है, स्वाभाविक है।

विवेक–विरोधी सम्बन्ध जिसके साथ है, वह तो हमारा त्याग कर ही देगा। आप अगर उसका अपनी ओर से त्याग कर दें, तब क्या होगा ? तब दोनों त्यागी बड़े आनन्द में रहेंगे। यह नियम है कि दो रागी हमेशा आपस में लड़ते हैं और दो त्यागी हमेशा आनन्द में रहते हैं। तो भाई, वस्तु तो हमारा त्याग कर ही रही है। यदि हमने भी वस्तु का त्याग कर दिया, तो वस्तु हमारी सराहना करेगी।

आप जानते हैं, वस्तु किससे घबराती है ? यह बड़े रहस्य की बात है। मैं आपसे निवेदन कर दूँ कि वस्तु संग्रही से बड़ा घबराती है, बड़ी दुखी होती है। वस्तु और किससे घबराती है ? उसका

दुरुपयोग करने वाले से बड़ा घबराती है, बड़ी भयभीत होती है। और वस्तु किससे घबराती है ? जो वस्तु पर अपनी ममता का पत्थर रख देता है, उससे तो वस्तु परेशान हो जाती है।

वस्तु प्रसन्न किससे होती है ? जो न तो उससे ममता करता है, न उसका संग्रह करता है और न उसका दुरुपयोग करता है, उससे वस्तु प्रसन्न होती है। वस्तु की प्रसन्नता की पहचान क्या है ? फिर आपके लिए आवश्यक वस्तुएँ अपने आप आने लगती हैं। यह एक वैज्ञानिक सत्य है। आप यह न समझ लें कि यह एक विश्वास की बात है। चाहे आप ईश्वरवादी हों, चाहे आप भौतिकवादी हों और चाहे आप अध्यात्मवादी हों; यदि आप वस्तुओं का सदुपयोग करते हैं, यदि आप वस्तुओं में ममता नहीं रखते, यदि आप वस्तुओं का संग्रह नहीं करते, तो आप सच मानिये, आपके जीवन में से दरिद्रता सदा के लिए मिट जाएगी।

आज का ईश्वरवादी इस बात के लिए चिन्तित रहता है कि दूध मिलेगा कि नहीं ! जरा गम्भीरता से विचार करो। ईश्वरवादी और इसके लिए चिन्तित कि अन्धे को आँखें मिलेंगी कि नहीं, लँगड़े को सहारा मिलेगा कि नहीं ! मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि अगर आपके जीवन में से वस्तु-विश्वास निकल जाए, वस्तु-सम्बन्ध निकल जाए, वस्तु का दुरुपयोग निकल जाए, तो वस्तु तरसेगी आपकी सेवा में आने के लिए।

लेकिन आज हम तरसते हैं वस्तु के लिए। वस्तु के संग्रह से कोई तत्त्व-ज्ञान खरीदना चाहता है, कोई भगवान् की प्राप्ति करना चाहता है, कोई विश्व का कल्याण करना चाहता है। कदापि नहीं होगा, हो ही नहीं सकता। क्योंकि इसमें वैज्ञानिक विरोध है। वस्तु का आश्रय लेकर आज तक किसी को सत्य मिला नहीं, मिल सकता नहीं, मिलेगा नहीं। क्योंकि भाई, वस्तु का सम्बन्ध ही विवेक-विरोधी है।

इसलिए बड़े ही धीरज के साथ, बड़ी ही ठंडी तबियत के

साथ आज हमें और आपको इस बात का निर्णय करना होगा कि भाई, क्या सत्य वस्तु की ममता से मिलेगा, वस्तु के संग्रह से मिलेगा, वस्तु के दुरुपयोग से मिलेगा ? नहीं मिलेगा। जो वस्तु प्राप्त है वह हमारी अपनी नहीं है भाई।

फिर वस्तु किसकी है ? तो भौतिक दर्शन की दृष्टि से वस्तु जगत् की है। अध्यात्म दर्शन की दृष्टि से वस्तु मायामात्र है और आस्तिक दर्शन की दृष्टि से वस्तु प्यारे प्रभु की है। जरा ध्यान दीजिए। वस्तु जगत् की है, यह भौतिकवाद है। वस्तु हमारे देश की है या हमारी पार्टी की है या हमारे कुटुम्ब की है–यह सब झूठी बात है। यह तो भोगवाद का तरीका है कि अब तक वस्तु आपकी थी, अब हमारी है। वस्तु जगत् की है। और जगत् किसका है ? जो सबका प्रकाशक है, आधार है और ज्ञाता है। जरा ध्यान दीजिये। जगत् किसी व्यक्ति विशेष का नहीं है, किसी देश विशेष का नहीं है। जगत् किसी वर्ग विशेष का नहीं है। जगत् अपने उसका है, जो सबका प्रकाशक है, सब का ज्ञाता है।

तो भाई, दर्शन में कितने ही भेद हों, लेकिन जीवन में कोई भेद नहीं होता। एक भौतिकवादी को भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि शरीर मेरा नहीं है। एक ईश्वरवादी को भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि शरीर मेरा नहीं है। और एक अध्यात्मवादी को भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि शरीर मैं नहीं हूँ। क्या जीवन में कोई भेद हुआ ? दर्शन–भेद होने पर भी जीवन में कोई भेद नहीं होता।

इसलिए मैं ऐसा मानता हूँ कि भाई, जिस समय हम और आप जीवन की ओर गतिशील होंगे, उस समय हम सबमें प्रीति की एकता होगी। क्योंकि जीवन एक है, जीवन में भिन्नता नहीं है। मानव सेवा संघ की नीति में यह बताया गया है कि हमारे और दूसरों के बीच में अनेक भेद हो सकते हैं। किन्तु एक भेद हम सहन नहीं कर सकते। वह क्या ? प्रीति का भेद नहीं सह सकते।

आप भले ही हमको प्यार न करें। पर अगर हम आपको प्यार

करें, तो क्या आपकी हिम्मत है कि आप हमारे प्यार को टाल सकें ? आपकी हिम्मत नहीं हो सकती। प्रीति की एकता को कोई तोड़ नहीं सका आज तक। जिसके जीवन में प्रीति की अभिव्यक्ति हो जाती है, उससे बुराई कभी होती ही नहीं। क्यों ? बुराई हम उसके साथ करते हैं, जिससे हमारा प्यार नहीं होता। भला, अपने प्यारे के साथ आज तक कोई बुराई कर पाया है ? कर ही नहीं सकता। सच्ची बात तो यह है कि प्यार का रस इतना गहरा रस है कि बुराई करने की हिम्मत ही नहीं पड़ती।

इसलिए भाई, विवेक–विरोधी सम्बन्ध जो आज हमारे जीवन में ओत–प्रोत हो गया है, उसको तोड़ना है। उसके तोड़ने में प्रत्येक भाई–बहन समर्थ भी है और स्वाधीन भी है। उसका तोड़ना वर्तमान की वस्तु है। आज हमने–आपने यदि यह बात स्वीकार कर ली कि जिस वाणी से मैं बोलता हूँ, वह मेरी नहीं है, जिस श्रोत्र से मैं सुनता हूँ, वे मेरे नहीं हैं। तो बोलने और सुनने का अभिमान कैसे होगा ? कदापि नहीं हो सकता।

तब क्या होगा ? तब बोलना जो होगा वह श्रोता के अधिकार के लिए होगा और सुनना जो होगा वह वक्ता के अधिकार के लिए होगा। आप जरा सोचिए। जो हमारे पारस्परिक सम्बन्ध हैं, यदि उन सम्बन्धों में यह भावना आ जाती है कि अगर मैं बोलता हूँ, तो यह श्रोतागणों की पूजा है और अगर मैं सुनता हूँ, तो यह वक्ता की पूजा है। इसी भावना को लेकर पति–पत्नी के बीच के सम्बन्ध को देखिये, दो सहोदर बन्धुओं के बीच के सम्बन्ध को देखिए, पड़ौसियों के बीच के सम्बन्ध को देखिये, दो वर्गों के बीच के सम्बन्ध को देखिए, और दो देशों के बीच के सम्बन्ध को देखिए। तो कितना आनन्द हो !

फिर क्या कोई कठिनाई होगी ? क्या लड़ाई का सामान इकट्‌ठा करना पड़ेगा, क्या बड़े–बड़े संगठन बनाने पड़ेंगे ? क्या भयभीत होना पड़ेगा ? कदापि नहीं। लेकिन हम आज कर्त्तव्य–विज्ञान

को भूल गए। इस बात को भूल गए कि भाई, हमारा जो साथी है वह इसलिए हमारा साथी है कि हमारी जो प्रवृत्ति है, उसमें उसका अधिकार निहित है।

हम सब प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक, जागृति से लेकर सुषुप्ति तक, जन्म से लेकर मृत्यु तक परस्पर में प्रीति की एकता को लेकर प्रत्येक प्रवृत्ति करें, तो हमारा–आपका जीवन कितना सुखमय हो जाए, कितना सुलभ–सहज और रसमय हो जाए !

जरा गम्भीरता से सोचिए कि क्या वह भी कोई जीवन है, जो दूसरों के अधिकार से ओत–प्रोत न हो ? भाई, न वह जीवन है और न वह साधन है। इसलिए मेरा निवेदन यह है कि हम सबको विवेक–विरोधी सम्बन्ध का त्याग करना है और अभी करना है। अरे भाई, तुम्हारी वस्तु तुम्हें दे दी, तो इसमें अपना क्या अहसान है ?

मान लो, आप रेल में बैठे हों और जगह काफी खाली है, कोई दूसरा पेसेन्जर आ जाए, तो उसे जगह देने में क्या आपत्ति है ? ट्रेन आपकी तो है नहीं। तुम्हारा स्टेशन आने पर तुम्हें गाड़ी छोड़नी ही पड़ेगी। यदि प्रीतिपूर्वक हम सबका व्यवहार हो, तो कितना अच्छा हो ! जीवन की अन्तिम घड़ियाँ कितने आनन्द में बीतें ! आज क्या है ? बोले, हम तो गुरु बन गए और तुम चेला बन गए। पत्थर बन गए। दोनों गुरु और चेला नरक में जाएँगे।

कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि भाई, विवेक–विरोधी जो सम्बन्ध है, उसका त्याग वर्तमान की वस्तु है। उसका त्याग करते ही जो वस्तु रूप में प्राप्त है, उसका दुरुपयोग नहीं होगा और जो अप्राप्त है, उसकी कामना नहीं होगी। प्राप्त के सदुपयोग से सुन्दर समाज का निर्माण होगा और अप्राप्त की कामना के नाश होने से नित्य योग की प्राप्ति होगी। यही जीवन का उद्देश्य है।।ॐ।।

४२ (ब)

प्रवचन् :

साधन जीवन है और जीवन साधन है। साधन और जीवन का विभाजन असाधन है। असाधन के त्याग में स्वतः साधन है। अब आप विचार करें कि जब जीवन ही साधन है, तो उसका विभाजन हो ही कैसे सकता है ? यदि हमें अपने जीवन में और साधन में दूरी मालूम होती है, भेद मालूम होता है, तो इसका नाम ही असाधन है। असाधन का त्याग करना ही मानव का परम पुरुषार्थ है। यानी जिससे हमारी अभिन्नता नहीं हो सकती, जिससे हम अभेद नहीं हो सकते, उससे हम सम्बन्ध नहीं रखेंगे।

अब आप विचार करें कि जिसे आप असाधन के नाम से कहते हैं, क्या उससे आप अभेद हो सकते हैं ? कोई ऐसा मिथ्यावादी हो सकता है जो सभी से झूठ बोले और सदैव झूठ बोले ? मेरे विचार के अनुसार संसार में एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं होगा। तात्पर्य क्या निकला ? असाधन से एकता नहीं हो सकती। तो जिससे हमारी एकता नहीं हो सकती, उसका हमें त्याग करना है।

अच्छा, क्या कोई व्यक्ति ऐसा कह सकता है कि शरीर और संसार की वस्तुओं से अपना विभाजन नहीं होगा ? आपको पता है कि नहीं, एक बेचारे के एक हाथ की अंगुलियाँ कट गई और एक हाथ कोहनी से कट गया। बताइये, यह कोई हमारे–आपके बस की बात है ? इससे यह सिद्ध हुआ कि नहीं, कि हाथ से हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता ? शरीर से हमारा–आपका नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता।

तो जिससे नित्य सम्बन्ध नहीं है, जिससे एकता नहीं हो सकती, उसके साथ एकता का भाव स्वीकार करना, यह क्या

हुआ ? यह असाधन हुआ। अब इसी दृष्टिकोण से आप और हम अपने–अपने जीवन को देखें और विचार करें कि हमारा नित्य सम्बन्ध किससे हो सकता है ! किसी दोष के साथ किसी भी दोषी का नित्य सम्बन्ध नहीं है। यदि नित्य सम्बन्ध है, तो बताओ, वर्तमान में क्या दोष है ? आप जिस दोष के सम्बन्ध में कहेंगे, वह भूतकाल का होगा। उसी के आधार पर आप अपने को वर्तमान में दोषी मानेंगे।

आप कहेंगे, क्या बताएँ, प्रीति जाग्रत नहीं होती। क्यों नहीं प्रीति जाग्रत होती ? इस पर थोड़ा विचार करें। तो आपको मालूम होगा कि प्रीति तो जीवन में है। लेकिन किस भेष में है, यह देखना है। जिसे आप दोष कहते हैं, यह भी किसी की प्रीति है। जैसे वस्तु की प्रीति का नाम लोभ हो गया, किसी व्यक्ति की प्रीति का नाम मोह हो गया और किसी परिस्थिति की प्रीति का नाम काम हो गया। लेकिन किसी भी वस्तु से इतनी प्रीति नहीं है कि जिसके बिना न रह सकें। यदि ऐसा होता, तो सुषुप्ति कभी नहीं स्वीकार करते।

जब हम चौबीस घण्टे में कुछ समय के लिए सुषुप्ति स्वीकार करते हैं, तो इससे सिद्ध होता है कि जाग्रत और स्वप्न में जो व्यक्ति हैं, जो वस्तुएँ हैं, जो अवस्था है, उनका वियोग आपको अभीष्ट है। जब किसी भी व्यक्ति से, किसी भी वस्तु से हमारा–आपका नित्य सम्बन्ध रह ही नहीं सकता, तब केवल इतना ही प्रश्न रह जाता है कि वस्तु का सदुपयोग करें और व्यक्ति की सेवा करें।

जिस वक्त आप वस्तु का उपयोग करने चलते हैं, उस समय वस्तु के संग्रह की जो बात सोच लेते हैं, बस, यही असाधन आ गया। कितने साधक ऐसे हैं, जो ईमानदारी से कह सकते हैं कि वस्तु सदुपयोग के लिए है, संग्रह के लिए नहीं। ऐसे कोई विरले ही होंगे।

एक बात बताऊँ भाई ! बुरा मत मानना। बहुत से लोग राजा जनक का उदाहरण दिया करते हैं। यह बात सिद्धान्त रूप से मान्य है, मुझे भी मान्य है कि प्रत्येक परिस्थिति में प्रभु–प्राप्ति हो सकती है। लेकिन विचार करके देखो, राजा और मजदूर, ये दो ही प्रकार के व्यक्ति सन्त और भक्त हुए हैं। मिल–ऑनर एक भी नहीं हुआ। बुरा मत मानना भाई ! आप कहें कि गोयन्का जी के पास तो लाखों रुपये हैं, यह तो भक्त हुए हैं। तो गोयन्का जी के दिल से पूछो कि क्या वह उनका धन है ?

आप देखेंगे कि ऐसे ही लोग भक्त हुए हैं। कोई कपड़ा बुनता है, कोई जूता गाँठता है। वह राज–मजदूरी करता है, श्रम करता है और उसके बदले में जो कुछ मिलता है, उसका बड़ा भाग उपयोग करता है भगवत्–सेवा में, भक्तों की सेवा में और विश्व की सेवा में। राजा–महाराजाओं की जो बात कही जाती है, तो राजा–महाराजा प्रजा के धन को कभी भी अपना नहीं मानते रहे। अपने प्राचीन राजाओं की यह पद्धति रही कि टैक्स का जो धन है, उसे उन्होंने अपना धन नहीं माना, उसे व्यक्तिगत धन कभी किसी राजा ने नहीं माना।

तात्पर्य यह है कि प्राप्त वस्तु के सदुपयोग करने में साधक का अधिकार रहा है। संग्रह करने की रुचि कभी किसी साधक की नहीं हुई, चाहे वह भक्त हो और चाहे वह सन्त हो। हमें और आपको यह देखना है कि हम जब साधन करने बैठते हैं, तो हमारे मन में संग्रह करने की रुचि है या नहीं ? हम लोग निवृत्ति–मार्ग के साधक हैं। यह जो मानव–सेवा–संघ बना है, इससे संग्रह की रुचि पैदा हो गई। इसी से चौपट हो गया। संग्रह की रुचि कभी भी प्रीति जाग्रत नहीं होने देती।

प्रीति का क्रियात्मक रूप सेवा है, और प्रीति का विवेकात्मक रूप त्याग है। प्रीति का जो भावात्मक रूप है वह है स्मृति, विरह

और मिलन। यह जो स्मृति का उदय होना, विरह का उदय होना, मिलन का रस मिलना–यह सब प्रीति का भावात्मक रूप है। तो भाई, प्रीति का भावात्मक रूप जो विरह है, उसी से शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सब छक जाते हैं, जिससे रस की वृद्धि होती है। वह तभी होता है, जब संग्रह की लेशमात्र भी रुचि नहीं रहती।

संग्रह की रुचि वस्तु से सम्बन्ध नहीं तोड़ने देती और वस्तु का सम्बन्ध उदारता का उदय नहीं होने देता। देखिये, वस्तु से कोई हानि नहीं होती। वस्तु का जो सम्बन्ध है, वह उदारता का अपहरण कर लेता है। जब उदारता जीवन में नहीं रहती, तब नीरसता बनी रहती है।

एक बार की घटना है। मैं ट्रेन में बैठा था। उस समय अकेले रहने पर मैं मार्ग–व्यय के लिए पैसे रखता था। ऐसा गुरुदेव का आदेश था कि कभी बिना टिकट मत चलना। पुराने सन्तों में दिखावा होता ही नहीं था। ऐसा नियम था कि यदि जाना जरूरी है, तो पैसा ले लो और टिकट खरीद लो। पैसे का काम तो करें और पैसा न रखें। यह भी त्याग का एक अनोखा ढंग है कि काम तो करें हजारों रुपये का और कहें कि महाराज जी तो पैसे रखते ही नहीं। मैं उनमें से पहले नम्बर का आदमी हूँ। एक दिन हमारे भाई जी कह रहे थे कि स्वामी जी का खर्च कम से कम एक हजार रुपये महीने का है। वे ठीक ही कहते हैं। इससे ज्यादा ही हो सकता है, कम नहीं। और नाम के लिए एक पैसा भी नहीं रखते। यानी हजार रुपये महीना खर्च करें और पैसा रखें नहीं। इस तरह का ढोंग पुराने सन्तों में नहीं होता था।

तो उस दिन महाराज, टिकट कलेक्टर एक आदमी को टिकट न होने की वजह से तंग कर रहा था। जब वह तंग करता था, तो मेरे मन में बार–बार यह बात आती थी कि पैसे देकर उसका टिकट बनवा दूँ। फिर मैं सोचता था कि अगर मैं इसको पैसे दे दूँगा तो

मुझें फिर किसी से पैसे माँगने पड़ेंगे। पुराने सन्त लोग कभी इस बात को पसन्द नहीं करते थे। मैंने सोचा कि इतनी तकलीफ मुझे क्यों हो रही है ? तो मुझे मालूम हुआ कि मुझे इसलिए तकलीफ हो रही है कि मेरे पास पैसे हैं। अगर मेरे पास पैसे न होते, तो मुझको कभी तकलीफ न होती।

आप लोग अपने दिल को टटोलें कि जिनके पास संग्रह है, क्या उन्हें सचमुच दुखियों का दर्शन नहीं होता ? दिन–रात होता है महाराज ! अपनी अयोग्य संतान के लिए रखे रहते हैं, योग्य अधिकारी को नहीं देते। यह क्या है ? उदारता नाश हो गई। उदारता का तो अर्थ यह है कि जब दुखी पर दृष्टि पड़े, तो आपका हृदय करुणित हो जाए। करुणा का अर्थ यह है कि आप अपना सुख बाँटने के लिए विवश हो जाएँ, और जब सुखी पर दृष्टि पड़े तो चित्त प्रसन्न हो जाए। प्रसन्नता का फल यह है कि काम का नाश हो जाए।

यह बताया जाता है कि योग करने से पहले चित्त प्रसन्न होना चाहिए। जो सुखियों को देखकर प्रसन्न नहीं होता, उसे प्रसन्नता कहाँ से मिलेगी ? तो कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि संग्रह की रुचि ने उदारता का अपहरण कर लिया। उदारता का अपहरण होने से चित्त को जो द्रवीभूत रहना चाहिए था, उसमें सख्ती आ गई। सख्ती माने, दुनिया के दुःख को देखकर सहते रहते हैं।

कोई कहे कि हम सबका दुःख तो नहीं मिटा सकते। यह बात ठीक है। लेकिन जितने अंश में मिटा सकते हो, उतना भी नहीं मिटाते और बुद्धिपूर्वक यह निर्णय कर लेते हैं कि हमारे पास जो धन है, उसका अच्छे से अच्छा उपयोग करना भी हमें आता है।

मैं आपसे निवेदन कर दूँ कि भाई, जिसके पास धन होता है, उसको धन का सदुपयोग करना नहीं आता। आप कहेंगे कि यह बात बिल्कुल झूठी है। लेकिन यह बात सेन्ट–पर–सेन्ट सच्ची है।

धन के संग्रह करने की सामर्थ्य जिसमें होती है, उसमें धन के सदुपयोग करने की योग्यता नहीं होती। ऐसा नियम ही है।

यदि सदुपयोग करना आ जाए, तो वह संग्रह कर ही नहीं सकता। इसलिए उपयोग हमेशा दूसरों के द्वारा ठीक होता है। हाँ, एक बात है कि यदि संग्रह करते समय भावना यह है कि यह जो हम संग्रह कर रहे हैं, यह भगवत्–सेवा के लिए कर रहे हैं, विश्व सेवा के लिए कर रहे हैं, दुखियों की सेवा के लिए कर रहे हैं, तब तो संग्रह करना भजन हो सकता है। लेकिन संग्रह करने के बाद उपयोग करना भी हमको ही आता है, दूसरों को नहीं आता, ऐसा मानना भारी भूल की बात है। इसमें बहुत से लोग धोखा खा जाते हैं और वस्तु से मनुष्य का मूल्य कम कर देते हैं। वस्तु से श्रम का मूल्य तो कम कर ही देते हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि सही काम करने वाले व्यक्ति आपको नहीं मिल पाते।

तो कहने का मेरा तात्पर्य यह था कि जब हमारे जीवन में से उदारता चली जाती है, तब हमारा हृदय द्रवीभूत नहीं रहता, करुणित नहीं रहता, सख्त हो जाता है। विचार–शक्ति तो बनी रहती है, योग्यता बनी रहती है, विवेचन–शक्ति बनी रहती है, लेकिन हृदय द्रवीभूत नहीं रहता। जब हृदय द्रवीभूत नहीं रहता, तो मधुर स्मृति उदित नहीं होती। विचार–शक्ति जो है, तर्कशक्ति जो है, वह निषेधात्मक साधना में सहायक होती है। विचार–शक्ति से हम वस्तुओं के सम्बन्ध को तोड़ सकते हैं। किन्तु हृदय के द्रवीभूत हुए बिना मधुर स्मृति उदित नहीं होती और उसके बिना प्रीति का जो भावात्मक रूप विरह है, उसकी वृद्धि नहीं होती।

तात्पर्य यह है कि भाई, वस्तु का सदुपयोग और व्यक्ति की सेवा साधन में बाधक नहीं हैं। वस्तुओं का उत्पादन भी साधन में बाधक नहीं है। तो साधन में जो बाधक है, वह है वस्तु से सम्बन्ध और वस्तु का संग्रह। दिन–रात वस्तु का उत्पादन करो, कोई बाधा

नहीं पड़ेगी। उसका सदुपयोग करते जाओ। वस्तु का उत्पादन करते जाओ और उसका सदुपयोग करते जाओ।

यह नियम है कि वस्तु की प्राप्ति किसी विधान से होती है। और यह निश्चित बात है कि उस विधान में उदार नीति होती है। जो उदार व्यक्ति होते हैं, उनके पास आवश्यक वस्तुएँ अपने आप आती हैं। यदि वस्तुएँ अपने आप नहीं आतीं, तो उन्हें वस्तुओं का चिन्तन भी बिल्कुल नहीं होता। जहाँ वस्तु–चिन्तन नहीं होता, वहाँ क्या होगा बताओ ? या तो वहाँ चिन्तनरहित शान्ति होगी या प्रिय का विरह होगा या तत्त्व की जिज्ञासा होगी, तीव्र जिज्ञासा होगी। तीव्र जिज्ञासा का अर्थ क्या है ? तीव्र जिज्ञासा सभी वस्तुओं की, सभी अवस्थाओं की, सभी परिस्थितियों की कामना को खा लेती है।

एक बात ध्यान देने की है कि जिज्ञासा वर्तमान जीवन की वस्तु है। यह नहीं कि आज जिज्ञासा होगी और कल उसकी पूर्ति होगी। ऐसा नहीं है। जिज्ञासा की पूर्ण जागृति, उसकी पूर्ति और कामनाओं की निवृत्ति, यह तीनों एक साथ होती हैं। यदि जिज्ञासा की पूर्ति नहीं हुई, तो समझना चाहिए कि कामना नाश नहीं हुई और यदि कामना नाश नहीं हुई, तो समझना चाहिए कि जिज्ञासा की जागृति ही नहीं हुई।

तो साधन की दृष्टि से वस्तु के सदुपयोग का, वस्तु के उत्पादन का बहुत बड़ा स्थान है। इससे हानि नहीं है। आप चाहे मिल के द्वारा,चाहे किसी प्रकार से वस्तु का उत्पादन करें, इससे साधन में कोई क्षति नहीं होगी। किन्तु उत्पादन करते समय जो उत्पादन का तरीका हो, जो उपाय हो, वह ऐसा होना चाहिए कि जिससे आप यह कह सकें कि हमने ऐसा काम नहीं किया, जो नहीं करना चाहिए था। यानी उसके उत्पादन का तरीका ईमानदारी का होना चाहिए और उत्पादित वस्तुओं का उदारतापूर्वक उपयोग होना

चाहिए। तब आवश्यक वस्तुएँ आपके पास अपने आप आती रहेंगी।

वस्तुएँ आती रहें और आप उनका सदुपयोग करते रहें, यह प्रभु की सेवा होगी। तो वस्तु के सदुपयोग द्वारा प्रभु की सेवा व्यक्ति के स्वरूप में होगी। जब आप व्यक्ति के स्वरूप में प्रभु की सेवा करेंगे, तब व्यक्ति–बुद्धि नाश हो जाएगी और भगवत्–बुद्धि उदय हो जाएगी। वस्तु–बुद्धि के नाश होने से ममता के लिए कोई स्थान ही नहीं रहेगा। ऐसा मालूम होगा कि यह जो वस्तु है, यह तो सेवा–सामग्री है, प्रभु की सेवा की सामग्री है। वस्तु और प्रभु जो हैं, वे व्यक्ति के रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। किसलिए अभिव्यक्त हुए हैं ? आपमें सेवा करने की जो रुचि थी, उसकी पूर्ति के लिए वे अभिव्यक्त हुए हैं।

यह किसका दृष्टिकोण है ? यह साधक का दृष्टिकोण है। और व्यक्तिगत रूप से वस्तु मैंने सम्पादित की है अपने सुख भोगने के लिए और जगत् जो है वह सुख–सामग्री है, इनसे सुख लिया जाए, इनका भोग किया जाए। यह क्या है ? यह असाधन है।

साधन की दृष्टि से वस्तु का अर्थ केवल उन वस्तुओं से लेना चाहिए कि जिनका उपयोग किया जा सके। जैसे बोलने की शक्ति भी एक वस्तु है, सुनने की शक्ति भी एक वस्तु है, सोचने की शक्ति एक भी वस्तु है, समझने की शक्ति भी एक वस्तु है। तो इन सभी वस्तुओं का सदुपयोग है प्रभु की सेवा में। और प्रभु की अभिव्यक्ति है जगत् के स्वरूप में।

देखिये, आस्तिकवाद और नास्तिकवाद में अन्तर क्या है ? आस्तिकवाद जगत् में प्रभु का दर्शन कराता है और नास्तिकवाद प्रभु में जगत् का दर्शन कराता है। यह बड़ा भारी अन्तर है आस्तिक दर्शन में और नास्तिक दर्शन में। प्रभु में जगत् का दर्शन–यह नास्तिक दर्शन की बात है। यह भी एक दर्शन है। और जगत् में प्रभु का दर्शन–यह आस्तिक दर्शन की बात है।

आस्तिक दर्शन की दृष्टि से जगत् का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। और जब जगत् का अस्तित्व ही नहीं है, तो बताइये, सम्बन्ध किससे रहेगा ? जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है, उसी से सम्बन्ध रहेगा। क्या ऐसा हो सकता है कि सम्बन्ध–कर्त्ता में उसकी स्मृति उदय न हो कि जिससे उसने सम्बन्ध किया है ? ऐसा कभी नहीं हो सकता। सम्बन्ध–कर्त्ता उसकी स्मृति है, जिससे उसका सम्बन्ध है।

जब हमारा प्रभु से सम्बन्ध है, तो हमारा अस्तित्व क्या हुआ ? प्रभु की स्मृति। अब आप सोचो कि जहाँ हम अपने में और प्रभु की स्मृति में भेद करते हैं, दूरी मानते हैं कि हम अलग हैं और प्रभु की स्मृति अलग है, तो भाई, साधन सिद्ध नहीं हुआ। साधन सिद्ध तभी होगा, जब हमारा अस्तित्व और प्रभु की स्मृति एक हो।

तात्पर्य क्या निकला ? प्रभु की स्मृति है जीवन। जीवन माने, प्रभु की स्मृति। प्रभु की स्मृति कब उदय हुई ? जब प्रभु से सम्बन्ध जोड़ा। और प्रभु से सम्बन्ध कब जोड़ा ? बोले, जब जगत् में प्रभु का दर्शन किया। जगत् में जो प्रभु का दर्शन नहीं कर सकता, उसका मन संसार से कभी नहीं हट सकता। विचार से कोई भले ही मान ले। कितना ध्यान करेंगे आप ? कितनी देर आप नाक बन्द करेंगे, कितनी देर आप आँख बन्द करेंगे ? कितनी देर मन को रोकियेगा ?

क्या दशा होगी ? जैसे मधुमक्खियों के काटने के भय से कोई जल में डूब जाय और जब उछले, तब मक्खियाँ काटेंगी महाराज ! तो जब तक हम जगत् में प्रभु का दर्शन नहीं कर सकते अथवा यों कहो कि प्रत्येक वस्तु में प्रभु का दर्शन नहीं कर सकते, तब तक सदा के लिए मन भगवान् में लग जाए, यह बात कभी भी सिद्ध नहीं होती। किसी का लग जाए, तो लग जाए। पर मैं नहीं कह सकता। हमारे यहाँ की साधन पद्धति में किसी साधन का विरोध नहीं किया जाता। अगर कोई मानता है कि मन लग जाएगा, तो लग जाए।

व्यक्तिगत जो मेरा अपना विचार है, वह यह है कि जब तक

हम जगत् में प्रभु का दर्शन नहीं कर सकते, खुली आँखों से अपने प्यारे को नहीं देख सकते, खुले कानों से अपने प्यारे की वाणी नहीं सुन सकते और स्पष्ट रूप से उसके हाथ पर हाथ नहीं फिरा सकते, तब तक सदा के लिए मन अपने प्यारे में नहीं लग सकता। जब तक यह मालूम होता है कि हमारे प्यारे से भिन्न भी कोई और है; और जब तक यह मालूम होता है कि कोई गैर है या कोई और है, तब तक सदा के लिए मन भगवान् में लग जाए, इसकी आशा करना कम–से–कम मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि मैं अपने को धोखा देता हूँ।

तो भाई, जगत् में अपने प्रभु का दर्शन, आस्तिकवाद। और प्रभु में जगत् का दर्शन, भौतिकवाद। तो जगत् को जगत् मान कर जगत् की वस्तुओं से जगत् की सेवा करना भौतिक दर्शन की साधना है। यह हाथ भी जगत् का और इस हाथ से सेवा जिसकी की जा रही है वह भी जगत् का। तो अन्तर क्या हुआ भाई ? अन्तर केवल इतना हुआ कि यदि आप जगत् की सत्ता स्वीकार करके जगत् की वस्तुओं से जगत् की सेवा करेंगे, तो अन्त में जगत् का अभाव पाएँगे। और जगत् में प्रभु का दर्शन करके प्रभु की दी हुई वस्तुओं से जगत्रूप प्रभु की सेवा करेंगे, तब सेवा के अन्त में प्रीति पाएँगे।

प्रभु का मिलन, प्रभु की सेवा और प्रभु का ज्ञान, इन तीनों में बड़ा अन्तर है भाई। प्रभु का ज्ञान तो ऐसा समझो कि जैसे जगत् को प्रभु मान लें, एक मिट्टी के ढेले को साक्षात् पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्दघन मान लें। तो समझ लो कि उसे प्रभु का ज्ञान हो गया। और जो वस्तुरूप से प्राप्त है उससे उसकी ठीक सेवा कर दें, यह प्रभु की सेवा। प्रभु की प्रीति इसके बाद आती है भाई। पहले प्रभु का ज्ञान, फिर प्रभु की सेवा और फिर प्रभु की प्रीति।

प्रीति कब उदय होती है ? जब समस्त क्रियाओं का अन्त होता

है। समस्त चेष्टाओं का अन्त, समस्त चेष्टाओं का अत्यन्त अभाव, श्रम का अभाव जहाँ होता है, वहीं प्रीति का उदय होता है। लेकिन एक बात ध्यान रहे कि चेष्टाओं का अन्त होने पर उस शान्ति में रमण करने लगे, तब भी प्रीति का उदय नहीं होता। इसलिए शान्त रस के अन्त में दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि भावों की प्राप्ति उन्हीं को होती है, जो शान्त रस में आसक्त नहीं हैं, शान्त रस में रमण नहीं करते।

प्रभु की प्रीति की जागृति और सर्व दुःखों की निवृत्ति शान्त रस में है। इसके पश्चात् दास्य भाव, सख्य भाव, वात्सल्य भाव, मधुर भाव आदि की अभिव्यक्ति होती है। तात्पर्य कहने का यह था कि क्या आप जगत् में प्रभु का दर्शन कर सकते हैं ? यह नहीं, कि कोई कहे कि हम तो अपने गुरु महाराज में भगवान् के दर्शन करते हैं या हम अमुक विभूति में प्रभु का दर्शन करते हैं। सच पूछिए तो यह कमजोर दिल की बात है कि जिस पर विजयी नहीं हो सके, उसे भगवान् मान बैठे। अपने गुरु में, सन्त में, विभूतियों में भगवान् के दर्शन कोई कठिन बात नहीं है।

भाई, सूर्य को कोई आदमी नहीं बना सकता, तो सूर्य में भगवान् का दर्शन कहाँ कठिन है ? अरे, गेहूँ से बिस्कुट बना सकते हैं, लेकिन गेहूँ तो कोई नहीं बना सकता। इस तरह वस्तु विशेष में भगवत्–बुद्धि होना कोई कठिन बात नहीं है। पर यह अधूरी आस्तिकता है। पूरी आस्तिकता का तो अर्थ यह है कि भगवान् से भिन्न कुछ है ही नहीं, अभी भी नहीं है, पहले भी नहीं था और आगे भी नहीं होगा।

जगत् में भगवत्–दर्शन करने का जो ज्ञान है, वह तो जगत् को परमात्मा जान लेना है, यानी जगत् में परमात्मा को जान लेना है। भाई, जगत् परमात्मा कैसे हो सकता है ? जगत् में परमात्मा तो सभी मान लेते हैं, बहुत आसान बात है। लेकिन पूर्ण आस्तिकता तो

यह है कि जगत् और परमात्मा का विभाजन कभी हुआ ही नहीं। जिसका विभाजन हो जाए, उसका अस्तित्व ही नहीं है।

तो चाहे तो जगत् के अभाव से जगत् और परमात्मा के भेद का नाश करलो। देखिए, जगत्रूप में ही अगर परमात्मा का दर्शन हो, तो यह बड़ा ऊँचा ज्ञान है। सही ज्ञान तो यही है। तो भाई, जगत् में अपने प्यारे प्रभु का दर्शन करो यानी जगत् में प्रभु को जानो और फिर प्रभु की दी हुई योग्यता, सामर्थ्य, वस्तु आदि से जगत् की सेवा करो।

प्रीति का जो क्रियात्मक रूप है, वह सेवा है। सेवा से क्या होगा ? सेवा के अन्त में प्रीति का जो भावात्मक रूप है प्रिय की स्मृति, प्रिय की प्रियता, प्रिय की आत्मीयता वह उदय होती है। इतनी गहरी आत्मीयता कि कोई और है ही नहीं, किसी और पर आज तक दृष्टि गई ही नहीं। और इतनी प्रियता कि कभी नजर भर देखा ही नहीं। अनन्त काल हो गया, कभी अपने प्यारे को पूरा देख ही नहीं पाए। यह प्रियता की विशेषता है।

प्रियता जब उदय होती है, तब फिर कभी उसका अन्त नहीं होता। उस प्रियता में कितनी सुन्दरता है, उस प्रियता में कितना आकर्षण है, उस प्रियता में कितना ऐश्वर्य है, कितना रस है, इसके लिए कोई शब्दावली नहीं हो सकती। अनन्त, अनन्त, अनन्त कह दो। अनन्त सौन्दर्य, अनन्त रस, अनन्त प्रियता !

भाई, जब कोई और है ही नहीं, तो समस्त प्रियता एक में विलीन होगी कि नहीं ? जब समस्त प्रियता एक में होगी, तब मन कहाँ जाएगा और कैसे जाएगा ? आज हम मन को पकड़–पकड़ का दबा कर रखते हैं। आप जानते ही हैं कि श्रम–साध्य साधन अखण्ड नहीं हो सकता। और किसी अन्य की सत्ता स्वीकार करने पर चित्त का निरोध ईमानदारी से हो ही नहीं सकता।

भाई देखो, गहरी नींद में सबका निरोध होता है। किसी अन्य की सत्ता स्वीकार करते हुए वास्तविक निरोध नहीं होगा और श्रम–साध्य साधन अखण्ड होगा नहीं। इस कारण विश्वास–मार्ग की दृष्टि से जगत् ही में प्रभु का दर्शन करो। जगत् अपने प्यारे की ही अभिव्यक्ति है, और कुछ नहीं। जब अपने प्यारे से भिन्न और कुछ है ही नहीं, तो प्रीति और प्रियतम से भिन्न न कभी कुछ है, न कभी कुछ हुआ और न आगे होगा। वर्तमान में और कुछ है नहीं, आगे कुछ होगा नहीं और पहले कुछ हुआ नहीं।

प्रीति ने प्रियतम को रस दिया और प्रियतम ने प्रीति को प्रकट किया। प्रियतम ही प्रीति के रूप में अभिव्यक्त होता है और प्रीति ही प्रियतम को रस देती है। इसका वर्णन चाहे सीताराम के चरित्र में हो, चाहे राधेश्याम के चरित्र में हो और चाहे गौरीशंकर के चरित्र में हो। आप जहाँ कहीं देखेंगे और जो कुछ मिलेगा, उसमें एक पक्ष प्रीति का होगा और दूसरा पक्ष प्रियतम का होगा। उसका नाम कुछ भी रख लीजिए। उस चरित्र के भेद कितने ही कर लीजिए और उसका वर्णन किसी प्रकार से कीजिए। यह जितना भी वर्णन होगा, वह प्रीति की वास्तविकता का नहीं होगा, उसका संकेत मात्र होगा।

तात्पर्य यह निकला कि यदि आपको सचमुच साधन करना है, तो भाई, जगत् में प्रभु का दर्शन करो। जगत् में प्रभु का दर्शन करने का फल यह होगा कि कोई और है, कोई गैर है, यह चीज बिल्कुल मिट जाएगी। कल्पना करो, यदि किसी को विश्वास न हो और जगत् में प्रभु का दर्शन न कर सके, तो कम से कम वह जगत् का भी दर्शन न करे। जगत् को जगत्–बुद्धि से देखने वाला व्यक्ति साधक नहीं हो सकता।

तो या तो जगत् में प्रभु का दर्शन करो और अगर आपको जगत् जगत् मालूम होता है, तो आप जगत् से विमुख हो जाएँ। क्या आपको मालूम है, जगत् कहाँ से शुरु होता है ? "मैं" से। जहाँ मैं का

आपको भास होता है कि "मैं हूँ" वहीं से किसी–न–किसी प्रकार की कामना पैदा होती है और किसी–न–किसी प्रकार की जिज्ञासा होती है। तो कामना और जिज्ञासा का पुंजरूप "मैं" है। "मैं" के इस पार जगत् और उस पार जो कोई हो, सो।

तो भाई "मैं" से विमुख हो जाओ। "मैं" से विमुख होते ही निर्वासना आएगी। निर्वासना आते ही जगत् का दर्शन नहीं होगा। यह क्या है ? यह बुद्धिपूर्वक आगे बढ़ने का तरीका है कि भाई, जगत् में भगवत्–बुद्धि की स्थापना नहीं हो पाती; सुन लेते हैं, मान लेते हैं, लेकिन सचमुच अपने प्यारे का दर्शन नहीं कर पाते। यदि वस्तुओं के रूप में, अवस्थाओं के रूप में, परिस्थितियों के रूप में, व्यक्तियों के रूप में प्रभु का दर्शन नहीं कर पाते, तो भाई, वस्तु को देख कर क्या करेंगे, व्यक्ति को देख कर क्या करेंगे, परिस्थितियों से सम्बन्ध जोड़कर क्या करेंगे ?

अरे, साधन का मतलब क्या ? जो आपका साध्य नहीं है, उसका त्याग कर दो। जो आपका साध्य नहीं है, उसका त्याग साधन है। जो आपका साध्य है, उसका प्रेम साधन है, उससे योग साधन है, उसका बोध साधन है। तो या तो साध्य से योग हो या जो साध्य नहीं है, उसका त्याग हो। तो त्याग से भी साधन आरम्भ होता है। और प्रेम से भी साधन आरम्भ होता है।

प्रेम से किनका साधन आरम्भ होता है ? जो जगत् में ही अपने प्रभु का दर्शन कर सकते हैं। आप यह सोचते होंगे कि वह तो बहुत घटिया भगवान् होगा। जगत् में यदि हम भगवान् को देखेंगे, तो वह भगवान् घटिया होगा। तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि जगत् से अलग करके जिस भगवान् को आप देखेंगे, वह इससे भी घटिया भगवान् होगा। क्यों ? जगत् में जब आप भगवान् को देखेंगे, तो जगत् नहीं रहेगा भाई। और जगत् से अलग करके जब प्रभु को देखेंगे, तो जगत् हमेशा रहेगा। तब चकाचौंध रहेगा। उसमें कभी तो

कहेंगे कि बड़ा आनन्द आया, बड़ा सुख है और कभी नीरसता।

जगत् से अलग करके जो भगवान् देखा जाता है, वह बहुत बढ़िया नहीं होता। वह बुद्धिमानों का भगवान् होता है और बुद्धिमान हमेशा सीमित होता है, सीमित। तो भाई, जगत् से अलग भगवान् को मान कर देखने का उपाय और जगत् में भगवान् को देखने का उपाय और जगत् को भगवान् देखने का उपाय, यानी जगत् में भगवान्, जगत् भगवान् और जगत् से अतीत भगवान्, तीनों तरीकों से देख सकते हैं और तीनों ही साधन दृष्टि से मान्य हैं। तीनों ही का महान फल है।

भाई एक ऐसा साधन होता है कि जिससे आगे दूसरा साधन उदय होता है। तो जगत् भगवान् ही है और कुछ नहीं है–यह विश्वास जिसको हो जाए, उसका भगवान् सबसे बढ़िया रहता है। यह कृपा साध्य बात है भाई।।ॐ।।

चित्त शुद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि शरीर, मन, प्राण, बुद्धि, वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का सदुपयोग दूसरों की सेवा में किया जाए। आपके पास जो कुछ है, वह सब सेवा-सामग्री है। संसार के पास ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी पहुँच आप तक हो। उसकी पहुँच आपके शरीर तक ही रहती है। यानी संसार से जो कुछ मिलता है, वह सब सेवा-सामग्री है तथा उसकी पहुँच केवल शरीरों तक ही रहती है। तात्पर्य क्या ? जैसे, गंगाजल से गंगा की पूजा कर दें, तो बतलाइए कि पूजा करने में क्या कोई खर्च होगा ? वैसे ही संसार की वस्तु से संसार की सेवा कर देनी है। इससे होगा क्या ? आपको ऐसा निरपेक्ष जीवन प्राप्त हो जाएगा, जिसमें श्रम-रहित चिर विश्राम होगा। ऐसा जीवन कब प्राप्त होगा ? जब आप अपने ज्ञान यानी विवेक का आदर करेंगे और जगत् की सेवा करेंगे।

Rs 20

५००० प्रतियाँ
अक्टूबर २०००

Chitralekhaa • 442415